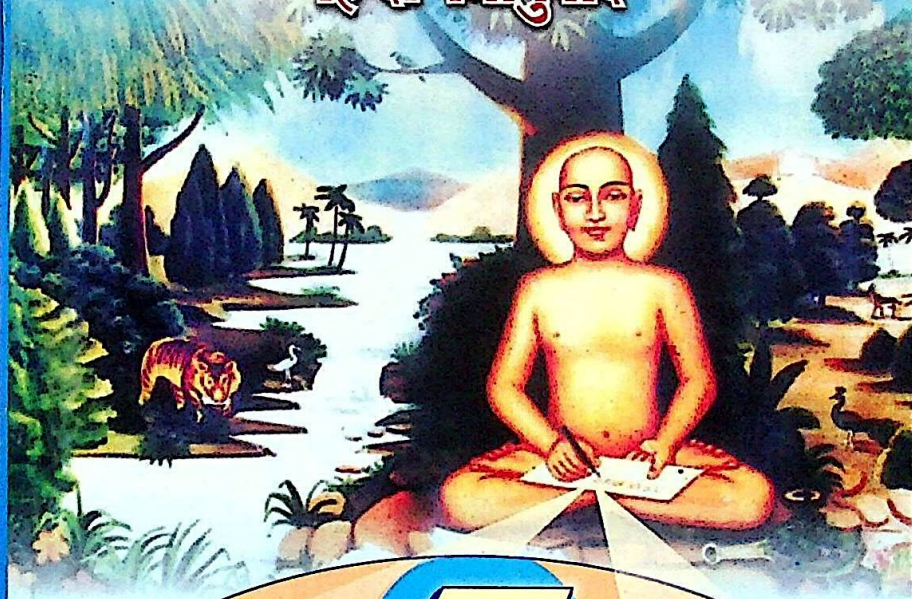


ग्रन्थाधिराज

श्रीसमयसार-श्रीप्रवचनसार-श्रीनियमसार

हिन्दी पद्यानुवाद



श्रीसमयसार

श्रीप्रवचनसार

श्रीनियमसार

MP-3

C.D.

प्रस्तुतकर्ता :

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अलीगढ़-आगरा मार्ग, अलीगढ़ - 202001 (उ०प्र०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

ॐ

नमः परमात्मने।

भगवान् श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

5254

ग्रन्थराज श्रीसमयसार,
श्रीप्रवचनसार, एवं श्रीनियमसार
का सङ्गीतबद्ध
हिन्दी पद्यानुवाद

प्रस्तुतकर्ता :

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिग० जैन ट्रस्ट,
अलीगढ़

प्राप्तिस्थान :

1. Teerthdham Mangalayatan
Aligarh-Agra Highway, Sasni - 204 216 Aligarh (U.P.) INDIA
e_mail : info@mangalayatan.com
2. Shri Digamber Jain Mumuksh Mandal
29, Gandhi Road, Dehradun-248001
e_mail : jain_veena@vsnl.net
3. Br. Ushaben J. Doshi
Bramcharyashram, Songarh - 364250 (Guj.)
4. Shree Kundkund-Kahan Pararthik Trust
302, "Krishna-Kunj", Plot No. 30,
Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg
Vile Parle (W.), Mumbai - 400 056
e_mail : vitragva@vsnl.com
5. Dr. Kiritbhai Gosaliya
14853, Norin 12th Street, Phoenix, Arizona 85022 U.S.A.
e_mail : digjain@aol.com
6. Smt. Jyotsna Vinaykant Shah
602, Hamilton Ave., Kingston - PA 18704-5622 U.S.A.
e_mail : jyotsana2@yahoo.com
7. Mr. Hasmukh M. Shah
304, Tall Oak Trail, Tarpon Springs, Florida 34688 U.S.A.
e_mail : kahanguru@hotmail.com
8. Dr. Dinkar M. Shah
1, The Broadway, Wealdstone,
Harrow, Middlesex HA3 7EH (U.K.)
e_mail : dinker_shah@yahoo.co.uk
9. Smt. Sheetal Vijen Shah
9, Halland Way, Northwood, Middlesex HA6 2AG (U.K.)
e_mail : sheetalvs@aol.com
10. Mr. Praful D. Raja
Coblantra Limited
P.O.Box 41619, Nairobi, Kenya
e_mail : spraja@mitsuminet.com

प्रस्तुतकर्ता :

तीर्थधाम मङ्गलायतन

- श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़
[मुख्य कार्यालय : 'विमलांचल', हरिनगर, अलीगढ़ - 202 001 (उ.प्र.)]
- तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी - 204216 (उ.प्र.)
e-mail : info@mangalayatan.com
Website : Mangalayatan.com

विषय-अनुक्रमणिका

ट्रेक सं.	विषय	पृष्ठ सं.
1.	प्रस्तावना ...	1
2.	अध्यात्म पुरुष : श्री कानजीस्वामी ...	3
3.	जिनवाणी का उद्देश्य ...	4
4.	जिनवाणी स्तुति ...	4
5.	पूर्वरङ्ग : संवाद ...	6
6.	पूर्वरङ्ग : गाथा 1 से 38 ...	7
7.	जीव-अजीव अधिकार : संवाद ...	10
8.	जीव-अजीव अधिकार : गाथा 39 से 68 ...	11
9.	कर्ता-कर्म अधिकार : संवाद ...	14
10.	कर्ता-कर्म अधिकार : गाथा 69 से 144 ...	15
11.	पुण्य-पाप अधिकार : संवाद ...	22
12.	पुण्य-पाप अधिकार : गाथा 145 से 163 ...	22
13.	आस्रव अधिकार : संवाद ...	25
14.	आस्रव अधिकार : गाथा 164 से 180 ...	25
15.	संवर अधिकार : संवाद ...	27
16.	संवर अधिकार : गाथा 181 से 192 ...	28
17.	निर्जरा अधिकार : संवाद ...	29
18.	निर्जरा अधिकार : गाथा 193 से 236 ...	30
19.	बन्ध अधिकार : संवाद ...	34
20.	बन्ध अधिकार : गाथा 237 से 287 ...	35
21.	मोक्ष अधिकार : संवाद ...	36
22.	मोक्ष अधिकार : गाथा 288 से 307 ...	37
23.	सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार : संवाद ...	43
24.	सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार : गाथा 308 से 415 ...	44
25.	उपसंहार ...	54
26.	श्रीप्रवचनसार : प्रस्तावना ...	55
27.	ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन : संवाद ...	56
28.	ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन : गाथा 1 से 92 ...	58
29.	ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन : संवाद ...	67

30.	ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन : गाथा 93 से 200 ...	68
31.	चरणानुयोग-सूचक चूलिका : संवाद ...	78
32.	चरणानुयोग-सूचक चूलिका : गाथा 201 से 275...	79
33.	उपसंहार ...	86
34.	नियमसार : प्रस्तावना ...	87
35.	जीव अधिकार : संवाद ...	90
36.	जीव अधिकार : गाथा 1 से 19 ...	90
37.	अजीव अधिकार : संवाद ...	92
38.	अजीव अधिकार : गाथा 20 से 37 ...	93
39.	शुद्धभाव अधिकार : संवाद ...	95
40.	शुद्धभाव अधिकार : गाथा 38 से 55 ...	96
41.	व्यवहारचारित्र अधिकार : संवाद ...	98
42.	व्यवहारचारित्र अधिकार : गाथा 56 से 76 ...	99
43.	परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार : संवाद ...	101
44.	परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार : गाथा 77 से 94 ...	102
45.	निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार : संवाद ...	104
46.	निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार : गाथा 95 से 106...	104
47.	परमआलोचना अधिकार : संवाद ...	106
48.	परमआलोचना अधिकार : गाथा 107 से 112 ...	106
49.	शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्त अधिकार : संवाद	107
50.	शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्त अधिकार : गाथा 113 से 121	108
51.	परमसमाधि अधिकार : संवाद ...	109
52.	परमसमाधि अधिकार : गाथा 122 से 133 ...	110
53.	परमभक्ति अधिकार : संवाद ...	111
54.	परमभक्ति अधिकार : गाथा 134 से 140 ...	111
55.	निश्चयपरमावश्यक अधिकार : संवाद ...	112
56.	निश्चयपरमावश्यक अधिकार : गाथा 141 से 158 ...	114
57.	शुद्धोपयोग अधिकार : संवाद ...	115
58.	शुद्धोपयोग अधिकार : गाथा 159 से 187 ...	117
59.	उपसंहार ...	120
60.	कहानगुरु का मङ्गलायतन : गीत	122
61.	बारहभावना : पं. जयचन्दजी छाबड़ा	123

ग्रन्थराज श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार
सङ्गीतबद्ध हिन्दी पद्यानुवाद
(तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ की प्रस्तुति)

प्रस्तावना

अखिल विश्व में भारतभूमि को पुण्यधरा के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतभूमि के उत्तरप्रदेश प्रान्त में अलीगढ़-आगरा मार्ग पर लघुसमयसारस्वरूप छहढाला के रचयिता पण्डित दौलतरामजी की जन्मभूमि सासनी के निकट तीर्थधाम मङ्गलायतन से आज कौन अपरिचित है? यहाँ 40 फुट ऊँची कृत्रिम पहाड़ी पर 111 इञ्च ऊँची भगवान आदिनाथ की विशाल पद्मासनस्थ प्रतिमा; साथ ही, भगवान महावीर तथा भगवान बाहुबली के नाम से दो भव्य जिनालय; भगवान आदिनाथ का नयनाभिराम 63 फुट उन्नत भव्य मानस्तम्भ, इस राजमार्ग से निकलने वाले प्रत्येक यात्री को जिनेन्द्र दरबार में आने का आमन्त्रण दे रहे प्रतीत होते हैं। तीर्थधाम के प्राङ्गण में पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर, आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तनकेन्द्र, भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन, आचार्य कुन्दकुन्द शोधसंस्थान, भगवान महावीर धर्मार्थ औषधालय आदि प्रमुख केन्द्र हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन की ओर से प्रथम बार श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार एवं श्रीनियमसार ग्रन्थाधिराजों की गाथाओं की हिन्दी में सङ्गीतमयी प्रस्तुति करते हुए, हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

परमागम श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार एवं श्रीनियमसार की मूलगाथाओं के रचयिता हैं आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव। आचार्य कुन्दकुन्ददेव को भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद स्मरण करते हुए, आज प्रत्येक जन स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है।

मङ्गलं भगवान वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।

मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥ 1॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकं।

प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥ 2॥

जिनकी कीर्ति द्वारा दसों दिशाएँ विभूषित हुई हैं; चार अंगुल ऊपर आकाश में गमन करने की जिनको ऋद्धि थी; जो अन्तरङ्ग में रागादि मल से और बाह्य में धूलादि मल से अस्पृश्य थे; जिस पवित्रात्मा ने इस भरतक्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की — वे कुन्दकुन्दाचार्य भगवान, इस पृथ्वीतल पर किसके द्वारा वन्दनीय नहीं हैं? भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव, जम्बूद्वीप के पूर्व स्थित विदेहक्षेत्र में विद्यमान श्रीसीमन्धरपरमात्मा के समवसरण में गये थे। वहाँ उन्होंने तीर्थङ्करदेव की निरक्षरी ॐकारध्वनि सुनी; उसी का सार, श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार आदि पञ्चपरमागम हैं।

पञ्चपरमागमों के रचयिता इस युग के महानतम दिगम्बर आचार्य, कुन्दकुन्ददेव के चरणों में हमारा शत-शत वन्दन हो! शत-शत वन्दन हो!!

विदेहीनाथ सीमन्धरस्वामी की मङ्गल दिव्यध्वनी के सारस्वरूप श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार एवं श्रीनियमसार ग्रन्थों की गाथाओं को केन्द्रबिन्दु बनाकर, आचार्यश्री अमृतचन्द्रदेव, आचार्यश्री जयसेनदेव,

मुनिराज पद्मप्रभमलधारीदेव, आचार्यश्री प्रभाचन्द्र, पाण्डे राजमलजी, पण्डित बनारसीदासजी, पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा, आदि अनेक भावलिङ्गी सन्तों एवं मनीषियों ने अपनी-अपनी टीकाओं एवं ग्रन्थों की रचनाएँ कीं। लेकिन तीर्थङ्करदेव के मुख से निकले हुए ये अमृतरूपी परमागम, आज हम सबके गले का हार बने हुए हैं, आखिर किसके प्रताप से?

इस युग के आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार, श्रीनियमसार आदि ग्रन्थों पर अनेक बार सभाओं में प्रवचन किये। स्वयं सैकड़ों बार इन ग्रन्थों का स्वाध्याय किया। ग्रन्थाधिराज समयसार पर तो पूज्य गुरुदेवश्री ने 19 बार सभा में आद्योपान्त प्रवचन कर समयसार को, प्रत्येक मुमुक्षु के दैनिक स्वाध्याय का अङ्ग बना दिया। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रताप से ही अरहन्त परमात्मा की निरक्षरी ॐकारवाणी के रूप में ये ग्रन्थ, आज जन-जन के हृदय में घर कर गये हैं।

इस निकृष्ट पञ्चमकाल में भव्यजीवों की कोई अचिंत्य होनहार से जैनधर्म के शासनस्तम्भ पूज्यश्री कानजीस्वामी का पवित्र अवतरण हुआ; अध्यात्मगगन में कहानसूर्य उदित हुआ; जिसके प्रकाश की किरणों में धरती का भाग्य मानों खिलखिलाकर कह रहा था — ‘अरे यहाँ पञ्चमकाल नहीं, सीमन्धर के लघुनन्दन पूज्य गुरुदेवश्री के प्रताप से चौथाकाल वर्त रहा है।’

(गीत)

तीर्थङ्करवत् कहानगुरु ने, कैसा गजब का काम किया।
 दिव्यवाणी कर तीर्थङ्कर का, विरह हमें भुला दिया॥
 मिथ्यातम की घटा हटाकर, ज्ञान-भानु प्रकाश किया।
 जिनागम का सार बताकर, जीवों का उद्धार किया॥
 मङ्गलायतन में मङ्गल अवसर, याद तुम्हारी आती है।
 कहाँ गये तुम कहानगुरु, तेरी याद हमें रुलाती है॥
 तुम आदर्श हमारे हो, ये मङ्गलायतन तुम्हारा है।
 जय-जयकार से गुरुवर तुम्हारी, गूँजा जग ये सारा है॥
 गूँजा जग ये सारा है।

परम वीतरागस्वरूप जिनवाणी का मुख्य उद्देश्य अनादि संसार
 में परिभ्रमण करते हुए जीवों को जन्म-मरण के दुःखों से छुड़ाने हेतु
 आत्मस्वरूप की पहचान कराना है। स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा,
 समयसारस्वरूप ही है। दिव्यध्वनि के सार को ग्रहण करके, परिणति
 में निज समयसारस्वरूप आत्मा का दर्शन करके, धर्मप्रकाश करें —
 इसी भावना के साथ आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थाधिराज श्रीसमयसार,
 श्रीप्रवचनसार एवं श्रीनियमसार को जन-जन के कण्ठ का हार बनाने
 हेतु इन महान ग्रन्थों की सङ्गीतबद्ध प्रस्तुति, सर्व आत्मार्थियों के
 लाभार्थ समर्पित है।

आइए! सर्वप्रथम हम सब जिनवाणी माता की स्तुति करें।
 प्रस्तुत जिनवाणीस्तुति के लिये पण्डित श्री हिम्मतलाल जेठालाल
 शाह, सोनगढ़ द्वारा रचित श्रीसमयसारस्तुति को आधार बनाया

(4)

गया है। हम स्व० पण्डितजी के प्रति हृदय से कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

(जिनवाणीस्तुति)

(हरिगीत)

संसारी जीव के भावमरणों, टालवा करुणा करी।
सरिता बहायी सुधायुत्, प्रभु वीर! ने संजीवनी॥
शोषाती देखी सरित को, करुणाभीना हृदये करी।
जिनवाणी संजीवनी ॐकारध्वनि के हृदये भरी।

(अनुष्टुप्)

मुनिराज रच्युँ शास्त्र, साधिया अमृते पूर्या।
ग्रन्थाधिराज! तारामाँ, भावो ब्रह्माण्ड का भर्या॥

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी, प्रशमरस भावे नितरती।
मुमुक्षु को पाती अमृतरस, अञ्जलि भरी-भरी॥
अनादि की मूर्छा, विष-तणी, त्वरा से उतरती।
विभावों से थंभी, स्वरूप भणी दौड़े परिणती॥

(शार्दूलविक्रीड़ित)

यह है निश्चयग्रन्थ भङ्ग सकल, व्यवहार के भेदवा।
यह प्रज्ञाछीणी ज्ञान अरु उदय की, सन्धि सहु छेदवा॥
साथी साधक का, यह भानु जग का, सन्देश महावीर का।
विसामो भवक्लांत के हृदय का, तू पन्थ निर्वाण का॥

(वसन्ततिलका)

सुनकर तुझे रसनिबन्ध शिथिल थाय।
जाने तुझे हृदय ज्ञानी तणा जणाय॥

तू रुचता जगत की रुचि आलसे सौ।
तू रीझता सकलज्ञायकदेव रीझे॥

(अनुष्टुप्)

बनावूँ पत्र कुन्दन के, रत्नों के अक्षरों लखी।
तथापि कुन्द सूत्रों का, अंकाए मूल्य ना कभी॥
तथापि आचार्य सूत्रों का, अंकाए मूल्य ना कभी।
तथापि कहान वाणी का, अंकाए मूल्य ना कभी॥

श्रीसमयसार

सर्वप्रथम हम ग्रन्थाधिराज श्रीसमयसार की 415. गाथाओं की सङ्गीतमयी हिन्दी प्रस्तुति का रसास्वादन करेंगे। इन गाथाओं का हिन्दी पद्यानुवाद पूज्य गुरुदेवश्री की उपस्थिति में स्व० पण्डित नेमचन्दजी पाटनी, आगरा द्वारा किया गया था। हम आदरणीय पण्डितजी के प्रति श्रद्धा के सुमन अर्पित करते हैं।

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।

चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥ 1॥

पूर्वरङ्ग

श्रीसमयसार का मूल प्रतिपादन केन्द्र बिन्दु हमारा त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा ही है। पूर्वरङ्ग में समयसार की मूल विषयवस्तु का संक्षिप्त स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। पूर्वरङ्ग के रूप में रचित समयसाररूपी महल की पीठिका के अन्त में आचार्यदेव ने निजभगवान आत्मा को समस्त परद्रव्यों से भिन्न; एक, शुद्ध, अरूपी, ज्ञान-दर्शन स्वभावी बताया है।

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप।
 सब ज्ञाता लखिके नमौं समयसार सब भूप॥1॥
 ध्रुव अचल अरु अनुपम गति, पाये हुए सब सिद्ध को।
 मैं वंद श्रुतकेवलिकथित, कहूँ समयप्राभृत को अहो॥1॥
 जीव चरित-दर्शन-ज्ञानस्थित, स्वसमय निश्चय जानना।
 स्थित कर्मपुद्गल के प्रदेशों, परसमय जीव जानना॥2॥
 एकत्व-निश्चय गत समय, सर्वत्र सुन्दर लोक में।
 उससे बने बन्धन कथा, जु विरोधिनी एकत्व में॥3॥
 है सर्व श्रुत-परिचित-अनुभूत, काम-भोग बन्धन की कथा।
 पर से जुदा एकत्व की, उपलब्धि केवल सुलभ ना॥4॥
 दर्शाऊँ एक विभक्त को, आत्मा तने निज विभव से।
 दर्शाऊँ तो करना प्रमाण, न छल ग्रहो स्खलना बने॥5॥
 नहीं अप्रमत्त, प्रमत्त नहीं, जो एक ज्ञायकभाव है।
 इस रीति शुद्ध कहाय अरु, जो ज्ञात वो तो वोहि है॥6॥
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान भी, व्यवहार कहता ज्ञानी के।
 चारित्र नहीं, दर्शन नहीं, नहीं ज्ञान, ज्ञायक शुद्ध है॥7॥
 भाषा अनार्य बिना न, समझाना ज्यों शक्य अनार्य को।
 व्यवहारबिन परमार्थ का, उपदेश होय अशक्य यों॥8॥
 इस आत्म को श्रुत से नियत, जो शुद्ध केवल जानते।
 ऋषिगण प्रकाशक लोक के, श्रुतकेवली उनको कहें॥9॥
 श्रुतज्ञान सब जाने जु, जिन श्रुतकेवली उसको कहें।
 सब ज्ञान सो आत्मा ही है, श्रुतकेवली उससे बने॥10॥

व्यवहारनय अभूतार्थ दर्शित, शुद्धनय भूतार्थ है।
 भूतार्थ आश्रित आतमा, सुदृष्टि निश्चय होय है॥ 11॥
 देखे परम जो भाव उसको, शुद्धनय ज्ञातव्य है।
 ठहरा जु अपरमभाव में, व्यवहार से उपदिष्ट है॥ 12॥
 भूतार्थ से जाने अजीव-जीव, पुण्य-पाप रु निर्जरा।
 आस्रव, संवर, बन्ध, मुक्ति, ये ही समकित जानना॥ 13॥
 अनबद्धस्पृष्ट अनन्य अरु, जो नियत देखे आत्म को।
 अविशेष अनसंयुक्त, उसको शुद्धनय तू जान जो॥ 14॥
 अनबद्धस्पृष्ट अनन्य जो, अविशेष देखे आत्म को।
 वो द्रव्य और जु भाव, जिनशासन सकल देखे अहो!॥ 15॥
 दर्शनसहित नित ज्ञान अरु, चारित्र साधु सेविये।
 पर ये तीनों आत्मा ही, केवल जान निश्चयदृष्टि में॥ 16॥
 ज्यों पुरुष कोई नृपति को भी, जानकर श्रद्धा करे।
 फिर यत्न से धन अर्थ वो, अनुचरण राजा का करे॥ 17॥
 जीवराज को यों जानना, फिर श्रद्धना इस रीति से।
 उसका ही करना अनुचरण, फिर मोक्ष अर्थी यत्न से॥ 18॥
 नोकर्म कर्म जु मैं अवरु, मैं में कर्म नोकर्म हैं।
 यह बुद्धि जब तक जीव की, अज्ञानी तब तक वो रहे॥ 19॥
 मैं ये अवरु, ये मैं, मैं हूँ इनका अवरु, ये हैं मेरे।
 जो अन्य हैं परद्रव्य मिश्र, सचित्त अगर अचित्त वे॥ 20॥
 मेरा ही यह था पूर्व में, मैं इसी का गतकाल में।
 ये होयगा मेरा अवरु, मैं इनका हूँगा भावि में॥ 21॥

अयथार्थ आत्म विकल्प ऐसा, मूढ़जीव ही आचरे।
 भूतार्थ जाननहार ज्ञानी, ये विकल्प नहीं करे॥ 22॥
 अज्ञानमोहित बुद्धि जो, बहुभाव संयुत जीव है।
 ये बद्ध और अबद्ध, पुद्गलद्रव्य मेरा वो कहे॥ 23॥
 सर्वज्ञ ज्ञानविषै सदा, उपयोगलक्षण जीव है।
 वो कैसे पुद्गल हो सके, जो तू कहे मेरा अरे?॥ 24॥
 जो जीव पुद्गल होय, पुद्गल प्राप्त हो जीवत्व को।
 तू तब हि ऐसा कह सके, है मेरा पुद्गलद्रव्य को॥ 25॥
 जो जीव होय न देह तो, आचार्य वा तीर्थेश की।
 मिथ्या बने स्तवना सभी, सो एकता जीव-देह की॥ 26॥
 जीव-देह दोनों एक हैं, यह कथन है व्यवहार का।
 निश्चयविषै तो जीव-देह, कदापि एक पदार्थ ना॥ 27॥
 जीव से जुदा पुद्गलमयी, इस देह की स्तवना करी।
 माने मुनी जो केवली, वन्दन हुआ स्तवना हुई॥ 28॥
 निश्चयविषै नहीं योग्य ये, नहीं देह गुण केवली हि के।
 जो केवली गुण को स्तवे, परमार्थ केवली वो स्तवे॥ 29॥
 रे ग्राम वर्णन करने से, भूपाल वर्णन हो न ज्यों।
 त्यों देह गुण के स्तवन से, नहीं केवली गुण स्तवन हो॥ 30॥
 कर इन्द्रिजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
 निश्चयविषै स्थित साधुजन, भाषें जितेन्द्रिय उन्हीं को॥ 31॥
 कर मोहजय ज्ञानस्वभाव रु, अधिक जाने आत्मा।
 परमार्थ विज्ञायक पुरुष ने, उन्हीं जितमोही कहा॥ 32॥

जितमोह साधु पुरुष का, जब मोह क्षय हो जाय है।
 परमार्थ विज्ञायक पुरुष, क्षीणमोह तब उसको कहे॥ 33॥
 सब भाव पर ही जान, प्रत्याख्यान भावों का करे।
 इससे नियम से जानना कि, ज्ञान प्रत्याख्यान है॥ 34॥
 ये और का है जानकर, परद्रव्य को यह नर तजे।
 त्यों और के हैं जानकर, परभाव ज्ञानी परित्यजे॥ 35॥
 कुछ मोह वो मेरा नहीं, उपयोग केवल एक मैं।
 इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, मोह निर्ममता कहें॥ 36॥
 धर्मादि वे मेरे नहीं, उपयोग केवल एक हूँ।
 इस ज्ञान को ज्ञायक समय के, धर्म निर्ममता कहें॥ 37॥
 मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञान-दृग हूँ यथार्थ से।
 कुछ अन्य वो मेरा तनिक, परमाणुमात्र नहीं अरे!॥ 38॥

दोहा

नृत्य कुतूहल तत्त्वको, मरियवि देखो धाय।
 निजानन्द रसमें छको, आन सबै छिटकाय॥

जीव-अजीव अधिकार

अब, ग्रन्थाधिराज समयसार में संसाररूपी रङ्गमञ्च पर पहला दृश्य प्रारम्भ होता है, जिसमें जीव और अजीव एकरूप होकर प्रवेश करते हैं।

एक, शुद्ध, त्रिकाल अरूपी, ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण भगवान् आत्मा के अनुभव से रहित अज्ञानी जीव, जीव और अजीव को एक मानकर मैं मनुष्य, मैं देव, मैं नारकी, मैं तिर्यञ्च, मैं पुरुष, मैं

स्त्री, मैं बालक, मैं वृद्ध आदि अनेक मिथ्या कल्पनाएँ करते हुए अनन्तकाल से संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं — 'हे भव्य जीवो! जीव और शरीरादि अजीवों का अनादि से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने पर भी जीव, अपनी ज्ञान-दर्शन-आनन्द आदि अनन्त शक्तियों को मिटाकर शरीरादि अजीवरूप नहीं होता और शरीरादि अजीव, अपने जड़स्वभाव को मिटाकर जीवरूप नहीं होते, क्योंकि जीव-अजीव सर्वद्रव्य अपने-अपने स्वभाव में स्थित रहते हैं — ऐसी भेदज्ञान की प्रवृत्ति द्वारा समयसार अर्थात् चैतन्यस्वरूप आत्मा स्वयं प्रगट होता है।'

दोहा

जीव अजीव के भेद का, ज्ञान ही सम्यक्ज्ञान।

जिन परमात्म यह कहे, पाओ शिवपुर थान॥

को मूढ़ आत्म अजान जो, पर आत्मवादी जीव है।

है कर्म अध्यवसान ही जीव, यों ही वो कथनी करे॥ 39॥

अरु कोई अध्यवसान में, अनुभाग तीक्ष्ण मन्द जो।

उसको ही माने आत्मा, अरु अन्य को, नोर्कर्म को॥ 40॥

को अन्य माने आत्मा बस, कर्म के ही उदय को।

को तीव्र-मन्द गुणोंसहित, कर्मों ही के अनुभाग को॥ 41॥

को कर्म आत्मा उभय मिलकर, जीव की आशा धरें।

को कर्म के संयोग से, अभिलाष आत्मा की करें॥ 42॥

दुर्बुद्धि यों ही और बहुविध, आत्मा पर को कहें।

वे सर्व नहीं परमार्थवादी, ये ही निश्चयविद कहें॥ 43॥

पुद्गलदरब परिणाम से, उपजे हुए सब भाव ये।
 सब केवली जिन भाषिया, किस रीत जीव कहें उन्हें?॥ 44॥
 रे कर्म अष्ट प्रकार का, जिन सर्व पुद्गलमय कहे।
 परिपाक में जिस कर्म का फल, दुःख नाम प्रसिद्ध है॥ 45॥
 व्यवहार ये दिखला दिया, जिनदेव के उपदेश में।
 ये सर्व अध्यवसान आदि, भाव को जहाँ जीव कहे॥ 46॥
 निर्गमन इस नृप का हुआ, निर्देश सैन्य समूह में।
 व्यवहार से कहलाय यह, पर भूप इसमें एक है॥ 47॥
 त्यों सर्व अध्यवसान आदि, अन्य भाव जु जीव है।
 शास्त्रन किया व्यवहार पर, वहाँ जीव निश्चय एक है॥ 48॥
 जीव चेतनागुण, शब्द, रस, रूप, गन्ध, व्यक्तिविहीन है।
 निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिङ्ग से॥ 49॥
 नहीं वर्ण जीव के, गन्ध नहीं, नहीं स्पर्श, रस जीव के नहीं।
 नहीं रूप, अरु संहनन नहीं, संस्थान नहीं, तन भी नहीं॥ 50॥
 नहीं राग जीव के, द्वेष नहीं, अरु मोह जीव के हैं नहीं।
 प्रत्यय नहीं, नहीं कर्म, अरु नोकर्म भी जीव के नहीं॥ 51॥
 नहीं वर्ग जीव के, वर्गणा नहीं, कर्मस्पर्द्धक हैं नहीं।
 अध्यात्मस्थान न जीव के, अनुभागस्थान भी हैं नहीं॥ 52॥
 जीव के नहीं कुछ योगस्थान रु, बंधस्थान भी हैं नहीं।
 नहीं उदयस्थान ही जीव के, अरु स्थान मार्गणा के नहीं॥ 53॥
 स्थितिबन्धस्थान न जीव के, संक्लेशस्थान भी हैं नहीं।
 जीव के विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी हैं नहीं॥ 54॥

नहीं जीवस्थान भी जीव के, गुणस्थान भी जीव के नहीं।
 ये सब ही पुद्गलद्रव्य के, परिणाम हैं जानो यही॥55॥
 वर्णादि गुणस्थानान्त भाव जु, जीव के व्यवहार से।
 पर कोई भी ये भाव नहीं हैं, जीव के निश्चयविषै॥56॥
 इन भाव से सम्बन्ध जीव का, क्षीर-जलवत् जानना।
 उपयोगगुण से अधिक, तिससे भाव कोई न जीव का॥57॥
 देखा लुटाते पंथ में को, पंथ ये लुटात है।
 जनगण कहें व्यवहार से, नहीं पंथ को लुटात है॥58॥
 त्यों वर्ण देखा जीव में, इन कर्म अरु नोकर्म का।
 जिनवर कहें व्यवहार से, यह वर्ण है इस जीव का॥59॥
 त्यों गन्ध रस रूप स्पर्श तन, संस्थान इत्यादिक सबै।
 भूतार्थदृष्टा पुरुष ने, व्यवहारनय से वर्णये॥60॥
 संसारी जीव के वर्ण आदि, भाव हैं संसार में।
 संसार से परिमुक्त के नहीं, भाव को वर्णादि के॥61॥
 यह भाव सब हैं जीव जो, ऐसा ही तू माने कभी।
 तो जीव और अजीव में कुछ, भेद तुझ रहता नहीं॥62॥
 वर्णादि हैं संसारी जीव के, ये ही मत तुझ होय जो।
 संसार स्थित सब जीवगण, पाये सदा रूपित्व को॥63॥
 इस रीत पुद्गल वोहि जीव, हे मूढमति! समचिह्न से।
 अरु मोक्ष प्राप्त हुआ भी, पुद्गलद्रव्य जीव बने अरे॥64॥
 जीव एक दो त्रय चार, पञ्चेन्द्रिय बादर सूक्ष्म हैं।
 पर्याप्त अनपर्याप्त जीव जु, नामकर्म की प्रकृति हैं॥65॥

जो प्रकृति यह पुद्गलमयी, वह करणरूप बने अरे।
 उससे रचित जीवथान जो हैं, जीव क्योंहि कहाय वे?॥ 66॥
 पर्याप्त अनपर्याप्त जो, हैं सूक्ष्म अरु बादर सभी।
 व्यवहार से कही जीवसंज्ञा, देह को शास्त्रन महीं॥ 67॥
 मोहन करम के उदय से, गुणस्थान जो ये वर्णये।
 वे क्यों बने आत्मा निरन्तर, जो अचेतन जिन कहे?॥ 68॥

दोहा

जीव-अजीव अनादि संयोग, मिलै लखि मूढ न आतम पावै;
 सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध, भिन्न गहे निजभाव सुदावै।
 श्रीगुरुके उपदेश सुनै रु, भले दिन पाय अज्ञान गमावै;
 ते जगमाँहि महन्त कहाय, बसै शिव जाय सुखी नित थावै॥

कर्ता-कर्म अधिकार

अब, रङ्गमञ्च पर जीव और अजीव, कर्ता-कर्म के भेष में प्रवेश करते हैं।

त्रिकाल ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा के अनुभव से रहित अज्ञानी जगत, जीव और अजीव को एक मानकर, स्वयं को शरीरादि नोकर्मों का, आठ कर्मों का और उनके निमित्त से होनेवाले भावकर्मों का कर्ता व भोक्ता मानते हैं — इस अज्ञानता से जीव चारों गतियों के दुःखों से बिलख रहे हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं — 'जीव-अजीव सर्व द्रव्य अपने-अपने गुण पर्याय में बसते हैं; अतः जीव और पुद्गल दोनों में अत्यन्त भेद है। जीव तो ज्ञाता है। जीव, पुद्गल में नहीं है और न ही पुद्गल, जीव में है; तब

फिर उनमें कर्ता-कर्म कैसे हो सकता है ? — ऐसा यथार्थ ज्ञान होने पर परद्रव्यों को करने व भोगने के समस्त विकल्पों को छोड़ता हुआ यह जीव, समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को प्राप्त होता है।'

दोहा

कर्ताकर्मविभाव कूँ, मेटि ज्ञानमय होय,
 कर्म नाशि शिव में बसे, तिहें नमूँ, मद खोय।
 रे आत्म आस्रव का जहाँ तक, भेद जीव जाने नहीं।
 क्रोधादि में स्थिति होय है, अज्ञानी ऐसे जीव की॥ 69॥
 जीव वर्तता क्रोधादि में, तब करम सञ्चय होय है।
 सर्वज्ञ ने निश्चय कहा, यों बन्ध होता जीव के॥ 70॥
 ये जीव ज्यों ही आस्रवों का, और अपने आत्म का।
 जाने विशेषान्तर तब ही, बन्धन नहीं उसको कहा॥ 71॥
 अशुचिपना विपरीतता, ये आस्रवों का जानके।
 अरु दुःखकारण जानके, इनसे निवर्तन जीव करे॥ 72॥
 मैं एक, शुद्ध, ममत्वहीन रु, ज्ञान-दर्शन पूर्ण हूँ।
 इसमें रहूँ स्थित, लीन इसमें, शीघ्र ये सब क्षय करूँ॥ 73॥
 ये सर्व जीव निबद्ध, अध्रुव शरणहीन अनित्य हैं।
 ये दुःख, दुःखफल जानके, इनसे निवर्तन जीव करे॥ 74॥
 जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
 सो नहीं करे, जो मात्र जाने, वो ही आत्मा ज्ञानी है॥ 75॥
 बहुभाँति पुद्गल कर्म सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
 पर द्रव्य-पर्यायों न प्रणमे, नहीं ग्रहे, नहीं ऊपजे॥ 76॥

बहुभाँति निज परिणाम सब, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
 पर द्रव्य-पर्यायों न प्रणमे, नहीं ग्रहे, नहीं ऊपजे॥ 77॥
 पुद्गल करम का फल अनन्ता, ज्ञानी पुरुष जाना करे।
 पर द्रव्य-पर्यायों न प्रणमे, नहीं ग्रहे, नहीं ऊपजे॥ 78॥
 इस भाँति पुद्गलद्रव्य भी, निजभाव से ही परिणमे।
 पर द्रव्य-पर्यायों न प्रणमे, नहीं ग्रहे, नहीं ऊपजे॥ 79॥
 जीवभाव हेतु पाय पुद्गल, कर्मरूप जु परिणमे।
 पुद्गल करम के निमित्त से, यह जीव भी त्यों परिणमे॥ 80॥
 जीव कर्मगुण कर्ता नहीं, नहीं जीवगुण कर्म ही करे।
 अन्योन्य के ही निमित्त से, परिणाम दोनों के बने॥ 81॥
 इस हेतु से आत्मा हुआ, कर्ता स्वयं निज भाव का।
 पुद्गल करमकृत सर्व भावों का, कभी कर्ता नहीं॥ 82॥
 आत्मा करे निज को ही ये, मन्तव्य निश्चयनय ही का।
 अरु भोगता निज को ही आत्मा, शिष्य यों तू जानना॥ 83॥
 आत्मा करे बहुभाँति पुद्गलकर्म, मत व्यवहार का।
 अरु वो ही पुद्गलकर्म, आत्मा अनेक विधमय भोगता॥ 84॥
 पुद्गल करम जीव जो करे, उनको ही जो जीव भोगवे।
 जिन को असंमत द्विक्रिया से, एकरूप आत्मा हुवे॥ 85॥
 जीवभाव पुद्गलभाव — दोनों, भाव को आत्मा करे।
 इससे ही मिथ्यादृष्टि, ऐसे द्विक्रियावादी हुवे॥ 86॥
 मिथ्यात्व, जीव-अजीव दो विध, उभय विध अज्ञान है।
 अविरमण, योग रु मोह, अरु क्रोधादि उभय प्रकार है॥ 87॥

मिथ्यात्व अरु अज्ञान आदि, अजीव पुद्गल कर्म हैं।
 अज्ञान अरु अविरमण अरु, मिथ्यात्व जीव-उपयोग है॥ 88॥
 है मोहयुत उपयोग का, परिणाम तीन अनादि का।
 मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव — ये तीन जानना॥ 89॥
 इससे ही है उपयोग त्रयविध, शुद्ध निर्मलभाव जो।
 जो भाव कुछ भी वह करे, उस भाव का कर्ता बने॥ 90॥
 जो भाव जीव करे स्वयं, उस भाव का कर्ता बने।
 उस ही समय पुद्गल स्वयं, कर्मत्व रूपहि परिणमे॥ 91॥
 पर को करे निजरूप अरु, निज आत्म को भी पर करे।
 अज्ञानमय ये जीव ऐसा, कर्म का कारक बने॥ 92॥
 पर को नहीं निजरूप अरु, निज आत्म को नहीं पर करे।
 यह ज्ञानमय आत्मा अकारक, कर्म का ऐसे बने॥ 93॥
 'मैं क्रोध' आत्म विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
 तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्ता बने॥ 94॥
 'मैं धर्म' आदि विकल्प यह, उपयोग त्रयविध आचरे।
 तब जीव उस उपयोगरूप, जीवभाव का कर्ता बने॥ 95॥
 यह मन्दबुद्धि जीव यों, परद्रव्य को निजरूप करे।
 इस भाँति से निज आत्म को, अज्ञान से पररूप करे॥ 96॥
 इस हेतु से परमार्थविद, कर्ता कहें इस आत्म को।
 यह ज्ञान जिसको होय, वो छोड़े सकल कर्तृत्व को॥ 97॥
 घट-पट-रथादिक वस्तुएँ, कर्मादि अरु सब इन्द्रियाँ।
 नोकर्म विध-विध जगत में, आत्मा करे व्यवहार से॥ 98॥

परद्रव्य को जीव जो करे, तो जरूर वो तन्मय बने।
 पर वो नहीं तन्मय हुआ, इससे न कर्ता जीव है॥ 99॥
 जीव नहीं करे, घट-पट नहीं, नहीं शेष द्रव्यों जीव करे।
 उपयोग-योग निमित्तकर्ता, जीव तत्कर्ता बने॥ 100॥
 ज्ञानावरण आदि सभी, पुद्गलदरब परिणाम हैं।
 करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानी है॥ 101॥
 जो भाव जीव करे शुभाशुभ, उसहि का कर्ता बने।
 उसका बने वो कर्म, आत्मा उसहि का वेदक बने॥ 102॥
 जो द्रव्य, जो गुण-द्रव्य में, परद्रव्यरूप न संक्रमे।
 अनसंक्रमा किस भाँति वह, परद्रव्य परिणामावे अरे!॥ 103॥
 आत्मा करे नहीं द्रव्य-गुण, पुद्गलमयी कर्मों विषै।
 इन उभय को उनमें न कर्ता, क्योंहि तत्कर्ता बने॥ 104॥
 जीव हेतुभूत हुआ अरे, परिणाम देख जु बन्ध का।
 उपचारमात्र कहाय यों, यह कर्म आत्मा ने किया॥ 105॥
 योद्धा करें जहाँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
 त्यों जीव ने ज्ञानावरण, आदि किये व्यवहार से॥ 106॥
 उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बाँधे, करे।
 पुद्गलदरब को आत्मा, व्यवहारनय वक्तव्य है॥ 107॥
 गुण-दोष उत्पादक कहा, ज्यों भूप को व्यवहार से।
 त्यों द्रव्य-गुण उत्पन्नकर्ता, जीव कहा व्यवहार से॥ 108॥
 सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बन्ध के कर्ता कहे।
 मिथ्यात्व अरु अविरमण, योग, कषाय — ये ही जानने॥ 109॥

फिर उन्हीं का दर्शा दिया, यह भेद तेरह प्रकार का।
 मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगि का॥ 110॥
 पुद्गल करम के उदय से, उत्पन्न इससे अजीव वे।
 वे जो करे कर्मों भले, भोक्ता भी नहीं जीवद्रव्य है॥ 111॥
 परमार्थ से 'गुण' नाम के, प्रत्यय करे इन कर्म को।
 तिससे अकर्ता जीव है, गुणथान करते कर्म को॥ 112॥
 उपयोग ज्यों ही अनन्य जीव का, क्रोध त्यों ही जीव का।
 तो दोष आवे जीव, त्यों ही अजीव के एकत्व का॥ 113॥
 यों जगत में जो जीव वे ही, अजीव भी निश्चय हुए।
 नोकर्म, प्रत्यय, कर्म के, एकत्व में भी दोष ये॥ 114॥
 जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोग आत्मक अन्य है।
 तो क्रोधवत् नोकर्म प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं॥ 115॥
 जीव में स्वयं नहीं बद्ध, अरु नहीं कर्मभावों परिणमे।
 तो वो ही पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे॥ 116॥
 जो वर्गणा कार्माण की, नहीं कर्मभावों परिणमे।
 संसार का ही अभाव अथवा, सांख्यमत निश्चित हुवे॥ 117॥
 जो कर्मभावों परिणमावे, जीव पुद्गलद्रव्य को।
 क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहीं परिणमत जो?॥ 118॥
 स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमें।
 जीव परिणमावे कर्म को, कर्मत्व में मिथ्या बने॥ 119॥
 पुद्गलदरब जो कर्म परिणत, नियम से कर्म ही बने।
 ज्ञानावरण इत्यादि परिणत, वो ही तुम जानो उसे॥ 120॥

नहीं बद्ध कर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे।
 तो जीव यह तुझ मत विषै, परिणमनहीन बने अरे॥ 121॥
 क्रोधादि भावों जो स्वयं नहीं, जीव आपहि परिणमे।
 संसार का ही अभाव अथवा, सांख्यमत निश्चित हुवे॥ 122॥
 जो क्रोध पुद्गलकर्म जीव को, परिणमावे क्रोध में।
 क्यों क्रोध उसको परिणमावे, जो स्वयं नहीं परिणमे?॥ 123॥
 अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों, परिणमे तुझ बुद्धि से।
 तो क्रोध, जीव को परिणमावे, क्रोध में मिथ्या बने॥ 124॥
 क्रोधोपयोगी क्रोध जीव, मानोपयोगी मान है।
 मायोपयुत माया अवरु, लोभोपयुत लोभ ही बने॥ 125॥
 जिस भाव को आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्म का।
 वो ज्ञानमय है ज्ञानी का, अज्ञानमय अज्ञानी का॥ 126॥
 अज्ञानमय अज्ञानी का, जिससे करे वो कर्म को।
 पर ज्ञानमय है ज्ञानी का, जिससे करे नहीं कर्म वो॥ 127॥
 ज्यों ज्ञानमय को भाव में से, ज्ञानभाव ही उपजते।
 यों नियत ज्ञानी जीव के, सब भाव ज्ञानमयी बने॥ 128॥
 अज्ञानमय को भाव से, अज्ञानभाव ही ऊपजें।
 इस हेतु से अज्ञानी के, अज्ञानमय भाव ही बनें॥ 129॥
 ज्यों कनकमय को भाव में से, कुण्डलादिक ऊपजें।
 पर लोहमय को भाव से, कटकादि भावों नीपजें॥ 130॥
 त्यों भाव बहु विध ऊपजें, अज्ञानमय अज्ञानी के।
 पर ज्ञानी के तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बनें॥ 131॥

जो तत्त्व का अज्ञान जीव के, उदय वो अज्ञान का।
 अप्रतीति तत्त्व की जीव के जो, उदय वो मिथ्यात्व का॥ 132॥
 जीव का जु अविरतभाव है, वो उदय अनसंयम ही का।
 जीव का कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषाय का॥ 133॥
 शुभ-अशुभ वर्तन या निवर्तन, रूप जो चेष्टा ही का।
 उत्साह करते जीव के, वो उदय जानो योग का॥ 134॥
 जब होय हेतुभूत ये तब, स्कन्ध जो कार्माण के।
 वे अष्टविध ज्ञानावरण, इत्यादि भावों परिणामें॥ 135॥
 कार्माण वरगणारूप वे जब, बन्ध पावें जीव में।
 आत्मा ही जीव परिणाम भावों, का तभी हेतु बने॥ 136॥
 जो कर्मरूप परिणाम जीव के, साथ पुद्गल का बने।
 तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे!॥ 137॥
 पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्य के।
 जीवभाव हेतु से पृथक्, तब कर्म के परिणाम हैं॥ 138॥
 जीव में कर्म के साथ ही, जो भाव रागादिक बने।
 तो कर्म अरु जीव उभय ही, रागादिपन पावें अरे!॥ 139॥
 पर परिणमन रागादिरूप तो, होत है जीव एक के।
 इससे ही कर्मोदय निमित्त से, पृथक् जीव परिणाम हैं॥ 140॥
 हैं कर्म जीव में बद्धस्पृष्ट, जु कथन यह व्यवहार का।
 पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जीव में, कथन है नय शुद्ध का॥ 141॥
 हैं कर्म जीव में बद्ध वा, अनबद्ध ये नयपक्ष है।
 परपक्ष से अतिक्रान्त भाषित, वो समय का सार है॥ 142॥
 नयद्वयकथन जाने ही केवल, समय में प्रतिबद्ध जो।
 नयपक्ष कुछ भी नहीं ग्रहे, नयपक्ष से परिहीन वो॥ 143॥

सम्यक्त्व और सुज्ञानकी, जिस एक को संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समय का सार है॥ 144॥

दोहा

जीव अनादि अज्ञान वसाय, विकार उपाय वणै करता सो;
ताकरि बन्धन आन तणूं फल, ले सुख दुःख भवाश्रमवासो।
ज्ञान भये करता न बनै, तब बन्ध न होय खुलै परपासो;
आतममाहि सदा सुविलास करै, सिव पाय रहै निति थासो॥

पुण्य-पाप अधिकार

पुण्य-पाप अधिकार नामक इस दृश्य में कर्म, पुण्य-पाप का स्वाँग भरकर प्रवेश करता है।

अज्ञानी जीव, पुण्य के फल स्वर्गादि जानकर, पुण्यभावों को हितकारी और पाप के फल नरकादि को बुरा जानकर, पापभावों को अहितकारी मानता है और संसार परिभ्रमण की निरन्तरता बनाये रखता है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं — 'हे भव्य जीवो! हिंसादि के अशुभ परिणाम हों या अहिंसादि के शुभ परिणाम, दोनों ही अज्ञान के फल हैं। सोने की बेड़ी भी लोहे की बेड़ी के समान बाँधती ही है; उसी प्रकार पुण्य-पाप दोनों ही भाव, बन्धरूप हैं — ऐसा यथार्थ ज्ञान प्रगट होते ही बन्धस्वभावी पुण्य-पाप के भावों से निवृत्त होकर जीव, अबन्धस्वरूप को अर्थात् भगवान् समयसार को प्राप्त होता है।'

दोहा

पुण्य-पाप दोऊ करम, बन्धरूप दुर मानि।

शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूँ चरण हित जानि॥

है कर्म अशुभ कुशील अरु, जानो सुशील शुभकर्म को।
 किस रीत होय सुशील, जो संसार में दाखिल करे ?॥ 145॥
 ज्यों लोह की त्यों कनक की, जज्जीर जकड़े पुरुष को।
 इस रीत से शुभ या अशुभकृत, कर्म बाँधे जीव को॥ 146॥
 इससे करो नहीं राग वा, संसर्ग उभय कुशील का।
 इस कुशील के संसर्ग से है, नाश तुझ स्वातन्त्र्य का॥ 147॥
 जिस भाँति कोई पुरुष, कुत्सितशील जन को जान के।
 संसर्ग उसके साथ त्योंहि, राग करना परित्यजे॥ 148॥
 यों कर्मप्रकृति शील और स्वभाव, कुत्सित जानके।
 निजभाव में रत-राग अरु, संसर्ग उसका परिहरे॥ 149॥
 जीव रागी बाँधे कर्म को, वैराग्यगत् मुक्ति लहे।
 ये जिनप्रभु उपदेश है, नहीं रक्त हो तू कर्म से॥ 150॥
 परमार्थ है निश्चय, समय, शुद्ध, केवली, मुनि, ज्ञानी है।
 तिष्ठे जु उसहि स्वभाव मुनिवर, मोक्ष की प्राप्ति करें॥ 151॥
 परमार्थ में नहीं तिष्ठकर, जो तप करे, व्रत को धरे।
 तप सर्व उसका बाल अरु, व्रत बाल जिनवर ने कहे॥ 152॥
 व्रत-नियम को धारे भले, तप शील को भी आचरे।
 परमार्थ से जो बाह्य वो, निर्वाण-प्राप्ति नहीं करे॥ 153॥
 परमार्थ-बाहिर जीवगण, जानें न हेतु मोक्ष का।
 अज्ञान से वे पुण्य इच्छें, हेतु जो संसार का॥ 154॥
 जीवादि का श्रद्धान समकित, ज्ञान उसका ज्ञान है।
 रागादि-वर्जन चरित है, अरु ये ही मुक्ति-पन्थ है॥ 155॥

विद्वानजन भूतार्थ तज, व्यवहार में वर्तन करें।
 पर कर्मनाश विधान तो, परमार्थ आश्रित सन्त के॥ 156॥
 मलमिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
 मिथ्यात्वमल के लेप से, सम्यक्त त्यों ही जानना॥ 157॥
 मलमिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
 अज्ञानमल के लेप से, सद्ज्ञान त्यों ही जानना॥ 158॥
 मलमिलन लिप्त जु नाश पावे, श्वेतपन ज्यों वस्त्र का।
 चारित्र पावे नाश, लिप्त कषायमल से जानना॥ 159॥
 यह सर्वज्ञानी-दर्शी भी, निजकर्म रज आच्छाद से।
 संसार प्राप्त न जानता वो, सर्व को सब रीत से॥ 160॥
 सम्यक्तप्रतिबन्धक करम, मिथ्यात्व जिनवर ने कहा।
 उसके उदय से, जीव मिथ्यात्वी बने, यह जानना॥ 161॥
 त्यों ज्ञानप्रतिबन्धक करम, अज्ञान जिनवर ने कहा।
 उसके उदय से, जीव अज्ञानी बने, यह जानना॥ 162॥
 चारित्रप्रतिबन्धक करम, जिन ने कषायों को कहा।
 उसके उदय से जीव, चारितहीन हो, यह जानना॥ 163॥

दोहा

आश्रय, कारण, रूप, सवादसुं, भेद विचारि गिनें दोऊ न्यारे;
 पुण्य रु पाप शुभाशुभभावनि, बन्ध भये सुख दुःखकरा रे।
 ज्ञान भये दोउ एक लखै बुध, आश्रय आदि समान विचारे;
 बन्धके कारण, हैं दोऊरूप, इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे॥

आस्रव अधिकार

ग्रन्थाधिराज समयसार में नाटक के इस चतुर्थ दृश्य में आस्रव नामक तत्त्व, पुण्य-पाप की एकता प्रदर्शित करता हुआ रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है।

शरीरादि परद्रव्यों में व शुभभावों में एकत्वबुद्धि ही मिथ्यात्व है। मिथ्यादर्शन आदि आस्रव ही नवीन द्रव्यास्रव के कारण होते हैं। ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा में आत्मपने वर्तते हुए ज्ञानियों को अज्ञानमयभाव नहीं होने से मोह-राग-द्वेषरूप भावास्रव नहीं होते; अतः नवीन बन्ध भी नहीं होता। ऐसे निरास्रव ज्ञानी पुरुष, चैतन्यवस्तु में रमते हुए, सर्व रागादि आस्रवों का अभाव करके निज समयसार को अर्थात् चैतन्यमात्र शुद्ध परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

दोहा

द्रव्यास्रव तैं भिन्न है, भावास्रव करि नास।

भये सिद्ध परमात्मा, नमूँ तिनहीं, सुख आस॥

मिथ्यात्व अविरत अरु कषाँ, योग संज्ञ-असंज्ञ हैं।

ये विविध भेद जु जीव में, जीव के अनन्य ही भाव हैं॥ 164॥

अरु वे ही ज्ञानावरन आदिक, कर्म के कारण बनें।

उनका भी कारण जीव बने, जो राग-द्वेषादिक करे॥ 165॥

सद्दृष्टि को आस्रव नहीं, नहीं बन्ध आस्रवरोध है।

नहीं बाँधता जानेहि पूर्वनिबद्ध, जो सत्ताविषैं॥ 166॥

रागादियुत जो भाव जीवकृत, उसहि को बन्धक कहा।

रागादि से प्रविमुक्त ज्ञायक, मात्र बन्धक नहीं रहा॥ 167॥

फल पक्व खिरता वृत्तसह, सम्बन्ध फिर पाता नहीं।
 त्यों कर्मभाव खिरा पुनः, जीव में उदय पाता नहीं॥ 168॥
 जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते हैं ज्ञानी के।
 वे पृथ्विपिण्ड समान हैं, कार्मणशरीर निबद्ध हैं॥ 169॥
 चउविधास्रव, समय-समय जु, ज्ञानदर्शन गुणहि से।
 बहुभेद बाँधे कर्म, इससे ज्ञानी बन्धक नाहिं है॥ 170॥
 जो ज्ञानगुण की जघनता में, वर्तता गुण ज्ञानका।
 फिर-फिर प्रणमता अन्यरूप जु, उसहि से बन्धक कहा॥ 171॥
 चारित्र, दर्शन, ज्ञान तीन, जघन्यभाव जु परिणमें।
 उससे ही ज्ञानी विविध, पुद्गलकर्म से बन्धात है॥ 172॥
 जो सर्व पूर्वनिबद्ध प्रत्यय, वर्तते सदृष्टि के।
 उपयोग के प्रायोग्य बन्धन, कर्मभावों से करे॥ 173॥
 अनभोग्य रह उपभोग्य जिस विध, होय उस विध बाँधते।
 ज्ञानावरण इत्यादि कर्म जु, सप्त-अष्ट प्रकार के॥ 174॥
 सत्ताविषै वे निरुपभोग्य ही, बालिका ज्यों पुरुष को।
 उपभोग्य बनते वे ही बाँधें, यौवना ज्यों पुरुष को॥ 175॥
 इस हेतु से सम्यक्त्वसंयुत, जीव अनबन्धक कहे।
 आस्रवभाव अभाव में, प्रत्यय नहीं बन्धक कहे॥ 176॥
 नहीं राग-द्वेष, न मोह, ये आस्रव नहीं सदृष्टि के।
 इससे ही आस्रवभाव बिन, प्रत्यय नहीं हेतु बनें॥ 177॥
 हेतु चतुर्विध कर्म अष्ट, प्रकार का कारण कहा।
 उनका ही रागादिक कहा, रागादि नहीं वहाँ बन्ध ना॥ 178॥

जन से ग्रहित आहार ज्यों, उदराग्नि के संयोग से।

बहुभेद माँस, वसा अरु, रुधिरादि भावों परिणमें॥ 179॥

त्यों ज्ञानी के भी पूर्वकाल, निबद्ध जो प्रत्यय रहे।

बहुभेद बाँधे कर्म जो जीव, शुद्धनय परिच्युत बने॥ 180॥

दोहा

योग कषाय मिथ्यात्व असंयम, आस्रव द्रव्यत आगम गाये;

राग विरोध विमोह विभाव, अज्ञानमयी यह भाव जताये।

जे मुनिराज करें इनि पाल, सुरिद्धि समाज लये सिव थाये;

काय नवाय नमूँ चित लाय, कहूँ जय पाय लहूँ मन भाये॥

संवर अधिकार

नाटक के पाँचवें दृश्य में आस्रवतत्त्व के पराजित होकर बाहर निकल जाने के बाद, रङ्गमञ्च पर संवरतत्त्व अत्यन्त उत्साह के साथ प्रवेश करता है।

अनादिकाल से जीव भेदज्ञान के अभाव में संसार परिभ्रमण कर रहा है। जब भेदज्ञान होता है अर्थात् जब जीव, उपयोगस्वरूप शुद्धात्मा और देहादि पुद्गलों को भिन्न जानता है, तब वह शुद्धात्मा का अनुभव करता है और अल्पकाल में समस्त बन्धनों से छूटकर मोक्षदशा को प्राप्त करता है। क्योंकि आत्मा के अनुभव से ही आस्रवों का अभाव होता है; आस्रवों के अभाव से कर्मबन्ध नहीं होता; कर्म के अभाव से शरीरादि नोकर्म उत्पन्न नहीं होते, और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है। अतः इस संवर अधिकार में आचार्य भगवान ने संसार के नाश व निज परमात्मस्वरूप

समयसार की प्राप्ति हेतु भेदज्ञान को निरन्तर भाने की प्रेरणा दी है। उन्होंने कहा है — 'अहो! आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेदविज्ञान के बल से ही सिद्ध हुए हैं और आज तक जितने भी संसारी हैं, वे सभी भेदविज्ञान के अभाव के कारण ही संसारी हैं।'

दोहा

मोहरागरुष दूर करि, समिति गुप्ति व्रत पारि।

संवरमय आतम कियो, नमूँ ताहि, मन धारि॥

उपयोग में उपयोग, को उपयोग नहीं क्रोधादि में।

है क्रोध क्रोधविषै ही निश्चय, क्रोध नहीं उपयोग में॥ 181 ॥

उपयोग है नहीं अष्टविध, कर्मों अवरु नोकर्म में।

ये कर्म अरु नोकर्म भी, कुछ हैं नहीं उपयोग में॥ 182 ॥

ऐसा अविपरित ज्ञान जब ही, प्रगटता है जीव के।

तब अन्य नहीं कुछ भाव वह, उपयोग शुद्धात्मा करे॥ 183 ॥

ज्यों अग्नितप्त सुवर्ण भी, निज स्वर्णभाव नहीं तजे।

त्यों कर्म उदय प्रतप्त भी, ज्ञानी न ज्ञानिपना तजे॥ 184 ॥

जीव ज्ञानी जाने ये ही, अरु अज्ञानी राग ही जीव गिने।

आतमस्वभाव अज्ञान जो, अज्ञानतम आच्छाद से॥ 185 ॥

जो शुद्ध जाने आत्म को, वो शुद्ध आत्म ही प्राप्त हो।

अनशुद्ध जाने आत्म को, अनशुद्ध आत्म ही प्राप्त हो॥ 186 ॥

शुभ-अशुभ से जो रोककर, निज आत्म को आत्मा ही से।

दर्शन अवरु ज्ञानहि ठहर, परद्रव्य इच्छा परिहरे॥ 187 ॥

जो सर्वसङ्गविमुक्त ध्यावे, आत्म से आत्मा ही को।

नहीं कर्म अरु नोकर्म, चेतक चेतता एकत्व को॥ 188॥

वह आत्मध्याता, ज्ञानदर्शनमय, अनन्यमयी हुआ।

बस अल्पकाल जु कर्म से, परिमोक्ष पावे आत्म का॥ 189॥

रागादि के हेतु कहे, सर्वज्ञ अध्यवसान को।

मिथ्यात्व अरु अज्ञान, अविरतभाव, त्यों ही योग को॥ 190॥

कारण अभाव जरूर, आस्रवरोध ज्ञानी को बने।

आस्रवभाव अभाव में, नहीं कर्म का आना बने॥ 191॥

है कर्म के जु अभाव से, नोकर्म का रोधन बने।

नोकर्म का रोधन हुए, संसार संरोधन बने॥ 192॥

सवैया तेईसा

भेदविज्ञानकला प्रगटै तब, शुद्धस्वभाव लहै अपना ही;

राग-द्वेष-विमोह सबहि, गलि जाय, इमै दुठ कर्म रुकाही।

उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश करै, बहु तोष धरै परमात्ममाहीं;

यों मुनिराज भली विधि धारतु, केवल पाय सुखी शिव जाहीं॥

निर्जरा अधिकार

नाटक के रूप में प्रस्तुत इस समयसार के छठवें दृश्य में ज्ञानी धर्मात्मा संवरतत्त्व से धर्म का प्रारम्भ करने के बाद निर्जरातत्त्व का कैसे अनुभव करते हैं ? — इसका वर्णन रङ्गमञ्च पर स्वयं निर्जरा ने स्वाँग द्वारा प्रदर्शित किया है।

भेदज्ञान और सम्यक्दर्शन प्रगट करते ही अन्तर में अपूर्व शान्ति को अनुभवता हुआ सम्यक्दृष्टि पुरुष मोक्षमार्ग में केलि करता

है। अब वह सर्वज्ञदेव का लघुनन्दन बन गया है। पुण्यकर्म, पुण्यभाव, पुण्य की सामग्री की इच्छा से रहित, निशंकित आदि गुणों से शोभायमान, ज्ञानी धर्मात्मा ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के भानपूर्वक अतीन्द्रिय आनन्द को भोगता है; विषयों का सेवन करते हुए भी अपने ज्ञान-वैभव के बल से, विषयसेवन के रज्जित परिणामों को नहीं भोगता। आचार्य कुन्दकुन्ददेव कहते हैं — 'हे आत्मन्! तू बाहर में भटक-भटककर, पुण्य-पाप के भाव कर-करके हैरान हो गया है। शरीर-मन-वाणी-इन्द्रियाँ और रागादि — ये आत्मा नहीं हैं; — ऐसा निश्चय करके ज्ञानस्वरूप आत्मा में ही प्रीति कर! उसी में रूचि कर!! उसी में सन्तुष्ट हो, तृप्त हो!!!, उसी से तुझे उत्तम सुख की प्राप्ति होगी।'

दोहा

रागादिक कूँ मेटि करि, नवे बन्ध हति सन्त।

पूर्व उदयमें सम रहे, नमूँ निर्जरावन्त॥

चेतन अचेतन द्रव्य का, उपभोग इन्द्रिसमूह से।

जो जो करे सदृष्टि, वह सब निर्जरा कारण बने॥ 193॥

परद्रव्य के उपभोग निश्चय, दुःख वा सुख होय है।

इन उदित सुख-दुःख भोगता, फिर निर्जरा हो जाय है॥ 194॥

ज्यों जहर के उपभोग से भी, वैद्यजन मरता नहीं।

त्यों उदयकर्म जु भोगता भी, ज्ञानीजन बँधता नहीं॥ 195॥

ज्यों अरतिभाव जु मद्य पीकर, मत्त जन बनता नहीं।

द्रव्योपभोग विषैं अरत, ज्ञानी पुरुष बँधता नहीं॥ 196॥

सेता हुआ नहीं सेवता, नहीं सेवता सेवक बने।

प्रकरणतनी चेष्टा करे, अरु प्राकरण ज्यों नहीं हुए॥ 197॥

कर्मों ही के जु अनेक उदय, विपाक जिनवर ने कहे।

वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥ 198॥

पुद्गलकरमरूप राग का ही, विपाकरूप है उदय ये।

ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ॥ 199॥

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव ही जानता।

अरु उदय कर्मविपाक को, वह तत्त्वज्ञायक छोड़ता॥ 200॥

अणुमात्र भी रागादि का, सद्भाव है जिस जीव को।

वह सर्व आगमधर भले ही, जानता नहीं आत्म को॥ 201॥

नहीं जानता जहाँ आत्म को, अनआत्म भी नहीं जानता।

वह क्योहि होय सुदृष्टि जो, जीव-अजीव को नहीं जानता?॥ 202॥

जीव में अपद्भूत द्रव्यभाव को, छोड़-ग्रह तू यथार्थ से।

थिर, नियत, एकहि भाव यह, उपलभ्य जो हि स्वभाव से॥ 203॥

मति, श्रुत, अवधि, मनः, केवल, सबहि एकहि पद जु है।

वह ज्ञानपद परमार्थ है, जो पाय जीव मुक्ती लहे॥ 204॥

रे ज्ञानगुण से रहित बहुजन, पद नहीं यह पा सके।

तू कर ग्रहण पद नियत ये, जो कर्म मोक्षेच्छा तुझे॥ 205॥

इसमें सदा रतिवन्त बन, इसमें सदा सन्तुष्ट रे!।

इससे ही बन तू तृप्त, उत्तम सौख्य हो जिससे तुझे॥ 206॥

‘परद्रव्य यह मुझ द्रव्य’, यों तो कौन ज्ञानीजन कहे?।

निज आत्म को निज का परिग्रह, जानता जो नियम से॥ 207॥

परिग्रह कभी मेरा बने, तो मैं अजीव बनूँ अरे!!
 मैं नियम से ज्ञाता ही, इससे नहीं परिग्रह मुझ बने॥ 208 ॥
 छेदाय या भेदाय, को लेजाय, नष्ट बनो भले।
 या अन्य को रीत जाय, पर परिग्रह न मेरा है अरे!॥ 209 ॥
 अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं पुण्य इच्छा ज्ञानी के।
 इससे न परिग्रही पुण्य का, वह पुण्य का ज्ञायक रहे॥ 210 ॥
 अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं पाप इच्छा ज्ञानी के।
 इससे न परिग्रही पाप का, वह पाप का ज्ञायक रहे॥ 211 ॥
 अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं अशन इच्छा ज्ञानी के।
 इससे न परिग्रही अशन का, वह अशन का ज्ञायक रहे॥ 212 ॥
 अनिच्छक कहा अपरिग्रही, नहीं पान इच्छा ज्ञानी के।
 इससे न परिग्रही पान का, वह पान का ज्ञायक रहे॥ 213 ॥
 ये आदि विध-विध भाव बहु, ज्ञानी न इच्छे सर्व को।
 सर्वत्र आलम्बनरहित, बस नियत ज्ञायकभाव वो॥ 214 ॥
 साम्प्रत उदय के भोग में, जु वियोगबुद्धि ज्ञानी के।
 अरु भावि कर्मविपाक की, कांक्षा नहीं ज्ञानी करे॥ 215 ॥
 रे! वेद्य-वेदक भाव दोनों, समय-समय विनष्ट हैं।
 ज्ञानी रहे ज्ञायक, कदापि न उभय की कांक्षा करे॥ 216 ॥
 संसार-तन सम्बन्धि, अरु बन्धोपभोग निमित्त जो।
 उन सर्व अध्यवसान उदय जु, राग होय न ज्ञानी को॥ 217 ॥
 हो द्रव्य सब में रागवर्जक, ज्ञानी कर्मों मध्य में।
 पर कर्मरज से लिप्त नहीं, ज्यों कनक कर्दममध्य में॥ 218 ॥

परद्रव्य सब में रागशील, अज्ञानी कर्मों मध्य में।
 वह कर्मरज से लिप्त हो, ज्यों लोह कर्दममध्य में॥ 219॥
 ज्यों शंख विविध सचित्त, मिश्र, अचित्त वस्तु भोगते।
 पर शंख के शुक्लत्व को नहीं, कृष्ण कोई कर सके॥ 220॥
 त्यों ज्ञानी भी मिश्रित, सचित्त, अचित्त, वस्तु भोगते।
 पर ज्ञान, ज्ञानी का नहीं, अज्ञान कोई कर सके॥ 221॥
 जब ही स्वयं वह शंख, तजकर स्वीय श्वेतस्वभाव को।
 पावे स्वयं कृष्णत्व तब ही, छोड़ता शुक्लत्व को॥ 222॥
 त्यों ज्ञानी भी जब ही स्वयं, निज छोड़ ज्ञानस्वभाव को।
 अज्ञानभावों परिणमें, अज्ञानता को प्राप्त हो॥ 223॥
 ज्यों जगत में को पुरुष, वृत्ति निमित्त सेवे भूप को।
 तो भूप भी सुखजनक विध-विध, भोग देवे पुरुष को॥ 224॥
 त्यों जीव पुरुष भी कर्मरज का, सुख अरथ सेवन करे।
 तो कर्म भी सुखजनक विध-विध, भोग देवे जीव को॥ 225॥
 अरु वह ही नर जब वृत्ति हेतु, भूप को सेवे नहीं।
 तो भूप भी सुखजनक विध-विध, भोग को देवे नहीं॥ 226॥
 सद्वृष्टि को त्यों विषयहेतु, कर्मरज सेवन नहीं।
 तो कर्म भी सुखजनक विध-विध, भोग को देता नहीं॥ 227॥
 सम्यक्ति जीव होते निःशंकित, इसहि से निर्भय रहें।
 हैं सप्तभयप्रविमुक्त वे, इसहि से वे निःशंक हैं॥ 228॥
 जो कर्मबन्धन मोहकर्ता, पाद चारों छेदता।
 चिन्मूर्ति वह शंकारहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ 229॥

जो कर्मफल अरु सर्व धर्मों, की न कांक्षा धारता।
 चिन्मूर्ति वह कांक्षारहित, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ 230॥
 सब वस्तुधर्म विषैं जुगुप्सा, भाव जो नहीं धारता।
 चिन्मूर्ति निर्विचिकित्स वह, सदृष्टि निश्चय जानना॥ 231॥
 समूढ़ नहीं सब भाव में, जो सत्यदृष्टि धारता।
 वह मूढ़ दृष्टिविहीन, सम्यक्दृष्टि निश्चय जानना॥ 232॥
 जो सिद्धभक्तिसहित है, गोपन करे सब धर्म का।
 चिन्मूर्ति वह उपगूहनकर, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ 233॥
 उन्मार्ग जाते स्वात्म को भी, मार्ग में जो स्थापता।
 चिन्मूर्ति वह थितिकरणयुत, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ 234॥
 जो मोक्षपथ में साधुत्रय का, वत्सलत्व करे अहा!!
 चिन्मूर्ति वह वात्सल्ययुत, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ 235॥
 चिन्मूर्ति मन रथपन्थ में, विद्यारथारूढ़ घूमता।
 जिनराज ज्ञान प्रभावकर, सम्यक्त्वदृष्टि जानना॥ 236॥

सवैया

सम्यक्वन्त महन्त सदा, समभाव रहै दुःख संकट आये;
 कर्म नवीन बन्धै न तबै, अरु पूरव बन्ध झड़े बिन भाये।
 पूरण अङ्ग सुदर्शनरूप, धरै नित ज्ञान बढ़े निज पाये;
 यों शिवमारग साधि निरन्तर, आनन्दरूप निजातम थाये॥

बन्ध अधिकार

अब, समयसार के नाटक का सातवाँ दृश्य प्रारम्भ होता है।
 इसमें ज्ञानी धर्मात्मा के जीवन में संवर-निर्जरा के प्रवेश होने पर
 अनादिकालीन जीव के साथ बँधे हुए बन्धतत्त्व में हलचल मच जाती

है। बन्धतत्त्व रङ्गमञ्च पर अपने स्वाँग को लेकर प्रस्तुत होता है।

सम्यक्दृष्टि धर्मात्मा, उपयोग में रागादि नहीं करते; अतः निर्बन्ध ही रहते हैं, लेकिन आत्मस्वभाव से अनभिज्ञ अज्ञानी आत्माएँ — 'मैं पर में कुछ कर सकता हूँ' — ऐसी मिथ्यामान्यता से उपयोग में रागादि करते हुए निरन्तर बँधती हैं। हे आत्मन्! पर को मारने, बचाने के, सुखी-दुःखी करने आदि के, सभी परिणाम मिथ्या हैं। आत्मा पर की क्रिया त्रिकाल में कर ही नहीं सकता। अतः तेरा पर के कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्धी राग निरर्थक ही है। हे भव्य! शरीरादि है, सो मैं हूँ; बाह्य अनुकूल संयोग मुझे सुख देते हैं, प्रतिकूल संयोग मुझे दुःख देते हैं — इस अज्ञान से तूने संसार में अनन्त दुःख भोगे हैं। चैतन्यस्वरूप की प्रतीति के इस अमूल्य अवसर में तू आत्मानुभव का उद्यम कर!

दोहा

रागादिक तैं कर्मकौ, बन्ध जानि मुनिराय।

तजैं तिनहीं समभाव करि, नमूँ सदा तिन पाय।

जिस रीत कोई पुरुष, मर्दन आप करके तेल का।

व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक खड़ा॥ 237॥

अरु ताड़, कदली, बाँस आदिक, छिन्न-भिन्न बहुं करे।

उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्यों का करे॥ 238॥

बहुभाँति के करणादि से, उपघात करते उसहि को।

निश्चयपने चिन्तन करो, रजबन्ध है किन कारणों?॥ 239॥

यों जानना निश्चयपने, चिकनाइ जो उस नरविषैं।

रजबन्ध कारण वह ही है, नहीं कायचेष्टा शेष है॥ 240॥

(35)

चेष्टा विविध में वर्तता, इस भाँति मिथ्यादृष्टि जो।
 उपयोग में रागादि करता, रजहि से लेपाय वो॥ 241॥
 जिस रीत फिर वह ही पुरुष, उस तेल सबको दूर कर।
 व्यायाम करता शस्त्र से, बहु रजभरे स्थानक ठहर॥ 242॥
 अरु ताड़, कदली, बाँस आदिक, छिन्न-भिन्न बहु करे।
 उपघात आप सचित्त अवरु, अचित्त द्रव्यों का करे॥ 243॥
 बहुभाँति के करणादि से, उपघात करते उसहि को।
 निश्चयपने चिन्तन करो, रजबन्ध नहीं किन कारणों?॥ 244॥
 यों जानना निश्चयपने, चिकनाइ जो उस नरविषै।
 रजबन्ध कारण वह ही है, नहीं कायचेष्टा शेष है॥ 245॥
 योगों विविध में वर्तता, इस भाँति सम्यग्दृष्टि जो।
 उपयोग में रागादि न करे, रजहि नहीं लेपाय वो॥ 246॥
 जो मानता 'मैं' मारुँ पर, अरु घात पर मेरा करे।'
 वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है॥ 247॥
 है आयुक्षय से मरण जीव का, ये ही जिनवर ने कहा।
 तू आयु तो हरता नहीं, तूने मरण कैसे किया?॥ 248॥
 है आयुक्षय से मरण जीव का, ये ही जिनवर ने कहा।
 वे आयु तुझ हरते नहीं, तो मरण तुझ कैसे किया?॥ 249॥
 जो मानता 'मैं' पर जिलाऊँ, मुझ जीवन पर से रहे।'
 वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है॥ 250॥
 जीतव्य जीव का आयुदय से, ये ही जिनवर ने कहा।
 तू आयु तो देता नहीं, तैने जीवन कैसे दिया?॥ 251॥

जीतव्य जीव का आयुदय से, ये ही जिनवर ने कहा।
 वे आयु तुझ देते नहीं, तो जीवन तुझ कैसे दिया?॥ 252॥
 जो आपसे माने 'दुःखी-सुखी, मैं करूँ परजीव को'।
 वह मूढ़ है, अज्ञानी है, विपरीत इससे ज्ञानी है॥ 253॥
 जहाँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें।
 तू कर्म तो देता नहीं, तू कैसे दुःखित-सुखी करे?॥ 254॥
 जहाँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें।
 वो कर्म तुझ देते नहीं, तो दुःखित तुझ कैसे करें?॥ 255॥
 जहाँ उदयकर्म जु जीव सब ही, दुःखित अवरु सुखी बनें।
 वो कर्म तुझ देते नहीं, तो सुखित तुझ कैसे करें?॥ 256॥
 मरता दुःखी होता जु जीव, सब कर्म उदयों से बनें।
 मुझसे मरा अरु दुःखी हुआ, क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!॥ 257॥
 अरु नहीं मरे, नहीं दुःखी बने, वे कर्म उदयों से बने।
 'मैंने न मारा, न दुःखी किया', क्या मत न तुझ मिथ्या अरे!॥ 258॥
 ये बुद्धि तेरी 'दुःखित अवरु, सुखी करूँ मैं जीव को'।
 वह मूढ़मति तेरी अरे, शुभ-अशुभ बाँधे कर्म को॥ 259॥
 करता तू अध्यवसान, 'दुःखित-सुखी करूँ मैं जीव को'।
 तू बाँधता है पाप को, वा बाँधता है पुण्य को॥ 260॥
 करता तू अध्यवसान, 'मैं मारूँ-जिलाऊँ जीव को'।
 तू बाँधता है पाप को, वा बाँधता है पुण्य को॥ 261॥
 मारो न मारो जीव को, है बन्ध अध्यवसान से।
 यह आत्मा के बन्ध का, संक्षेप निश्चयनय विषै॥ 262॥

यों झूठ माँहि अदत्त में, अब्रह्म अरु परिग्रह विषैं।
 जो होय अध्यवसान, उससे पाप बन्धन होय है॥ 263 ॥
 इस रीत सत्य रु दत्त में, त्यों ब्रह्म अनपरिग्रह विषैं।
 जो होय अध्यवसान, उससे पुण्य बन्धन होय है॥ 264 ॥
 जो होय अध्यवसान जीव के, वस्तु आश्रित वह बने।
 परवस्तु से नहीं बन्ध, अध्यवसान से ही बन्ध है॥ 265 ॥
 करता दुःखी-सुखी जीव को, अरु बद्ध-मुक्त करूँ अरे।
 ये मूढमति तुझ है निरर्थक, इसहि से मिथ्या ही है॥ 266 ॥
 सब जीव अध्यवसानकारण, कर्म से बँधते जहाँ।
 अरु मोक्षमग थित जीव छूटें, तू ही क्या करता भला?॥ 267 ॥
 तिर्यञ्च, नारक, देव, मानव, पुण्य-पाप अनेक जे।
 उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसान से॥ 268 ॥
 अरु त्योंहि धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, लोक-अलोक जे।
 उन सर्वरूप करै जु निजको, जीव अध्यवसान से॥ 269 ॥
 इन आदि अध्यवसान विध-विध, वर्तते नहीं जिनहि को।
 शुभ-अशुभ कर्म अनेक से, मुनिराज वे नहीं लिप्त हों॥ 270 ॥
 जो बुद्धि, मति, व्यवसाय, अध्यवसान अरु विज्ञान है।
 परिणाम, चित्त रु भाव सबहि, शब्द ये एकार्थ हैं॥ 271 ॥
 व्यवहारनय इस रीत जान, निषिद्ध निश्चयनय ही से।
 मुनिराज जो निश्चयनयाश्रित, मोक्ष की प्राप्ति करें॥ 272 ॥
 जिनवरप्ररूपित व्रत, समिति, गुप्ति अरु तप, शील को।
 करता हुआ भी अभव्य जीव, अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि है॥ 273 ॥

मोक्ष की श्रद्धाविहीन, अभव्य जीव शास्त्रों पढ़ै।
 पर ज्ञान की श्रद्धारहित को, पठन ये नहीं गुण करै॥ 274॥
 वो धर्म को श्रद्धे, प्रतीते, रुचि अरु स्पर्शन करे।
 वह भोगहेतु धर्म को, नहीं कर्मक्षय के हेतु को॥ 275॥
 'आचार' आदिक ज्ञान है, जीवादि दर्शन जानना।
 षट् जीवकाय चारित्र है, ये कथन नय व्यवहार का॥ 276॥
 मुझ आत्म निश्चय ज्ञान है, मुझ आत्म दर्शन चरित है।
 मुझ आत्म प्रत्याख्यान अरु, मुझ आत्म संवर योग है॥ 277॥
 ज्यों स्फटिकमणि है शुद्ध, आप न रक्तरूप जु परिणमे।
 पर अन्य रक्त पदार्थ से, रक्तादिरूप जु परिणमे॥ 278॥
 त्यों ज्ञानी भी है शुद्ध, आप न रागरूप जु परिणमे।
 पर अन्य जो रागादि दूषण, उनसे वो रागी बने॥ 279॥
 कभी राग-द्वेष-विमोह अरु, कषायभाव जु निजविषै।
 ज्ञानी स्वयं करता नहीं, इससे न तत्कारक बने॥ 280॥
 पर राग-द्वेष-कषाय कर्म, निमित्त होवें भाव जो।
 उन रूप जो जीव परिणमें, फिर बाँधता रागादि को॥ 281॥
 यों राग-द्वेष-कषाय कर्म, निमित्त होवें भाव जो।
 उन रूप आत्मा परिणमें, वो बाँधता रागादि को॥ 282॥
 अनप्रतिक्रमण दो भाँति, अनपचखाण भी दो भाँति हैं।
 जीव को अकारक है कहा, इस रीत के उपदेश से॥ 283॥
 अनप्रतिक्रमण दो द्रव्य-भाव जु, योंहि अनपचखाण है।
 जीव को अकारक है कहा, इस रीत के उपदेश से॥ 284॥

अनप्रतिक्रमण अरु त्योहि, अनपचखाण द्रव्य रु भाव का।

जब तक करे है आत्मा, कर्ता बनै है जानना॥ 285॥

हैं अधःकर्मादिक जु, पुद्गलद्रव्य के ही दोष ये।

कैसे करे ज्ञानी सदा, परद्रव्य के जो गुणहि हैं?॥ 286॥

उद्देशि त्योहि अधःकर्मी, पौद्गलिक यह द्रव्य जो।

कैसे हि मुझकृत होय नित्य, अजीव वर्णा जिसहि को॥ 287॥

सवैया तेईसा

जो नर कोय परै रजमाहिं, सचिक्कण अङ्ग लगै वह गाढै;

त्यो मतिहीन जु रागविरोध, लिये विचरे तब बन्धन बाढै।

पाय समै उपदेश यथारथ, रागविरोध तजै निज चाटै;

नाहिं बँधै तब कर्मसमूह जु, आप गहै परभावनि काटै॥

मोक्ष अधिकार

अब, समयसार का आठवाँ दृश्य प्रारम्भ होता है। इसमें बन्ध के सर्वथा अभावस्वरूप मोक्ष रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। यहाँ मोक्ष को भी जीव का स्वाँग बताया है अर्थात् ज्ञानी धर्मात्मा अपने को मात्र सर्वविशुद्ध ज्ञानमय जीवतत्त्व स्वरूप ही अनुभव करते हुए मोक्ष को भी स्वाँग समान समझते हैं।

मैं आत्मा अनादिअनन्त हूँ। अपनी पहचान के बिना संसार के भिन्न-भिन्न गतियों में शरीर धारण करके दुःखी हुआ। अरे! अब उनसे कैसे छूटा जाये? मोक्ष कैसे हो? जिसे चारों गतियों में दुःख लगे, और उनसे छूटना चाहे — ऐसे जिज्ञासु जीव को आचार्य भगवान सावधान करते हैं। 'देखो! अनादि के इस बन्धन को

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
 जाननेमात्र से या बन्ध की चिन्ता करनेमात्र से जीव मुक्त नहीं होता। जो चेतनस्वरूप आत्मा है, वह मैं हूँ और शेष जो द्रव्य हैं, बन्धभाव हैं; वे सब मुझसे पर हैं' — इस प्रकार आत्मा और बन्ध को प्रज्ञा द्वारा भिन्न करनेवाला आत्मा, निज आत्मस्वरूप में लीन होता है; आगामी बन्ध का नाश करता है; केवलज्ञान स्वरूप होता हुआ मोक्षपद को प्राप्त करता है।'

दोहा

कर्मबन्ध सब काटि के, पहुँचे मोक्ष सुथान।

नमूँ सिद्ध परमात्मा, करूँ ध्यान अमलान॥

ज्यों पुरुष कोई बन्धनों, प्रतिबद्ध है चिरकाल का।

वह तीव्र-मन्द स्वभाव, त्यों ही काल जाने बन्ध का॥ 288॥

पर जो करे नहीं छेद तो, छूटे न बन्धनवश रहे।

अरु काल बहुत हि जाय तो भी, मुक्त वह नर नहीं बने॥ 289॥

त्यों कर्मबन्धन के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग को।

जाने भले छूटे न जीव, जब शुद्ध हो तब मुक्त हो॥ 290॥

जो बन्धनों से बद्ध, वह नहीं बन्ध चिन्ता से छूटे।

त्यों जीव भी इन बन्ध की, चिन्ता करे से नहीं छूटे॥ 291॥

जो बन्धनों से बद्ध वह नर, बन्ध छेदन से छूटे।

त्यों जीव भी इन बन्धनों को, छेद कर मुक्ति वरे॥ 292॥

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।

जो बन्धमें ही विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करें अहा॥ 293॥

छेदन करो जीव बन्ध का, तुम नियत निज-निज चिह्न से।

प्रज्ञाछैनी से छेदते, दोनों पृथक् हो जाय हैं॥ 294॥

छेदन होवे जीव बन्ध का, जहाँ नियत निज-निज चिह्न से।
 वहाँ छोड़ना इस बन्ध को, जीव ग्रहण करना शुद्ध को॥ 295॥
 यह जीव कैसे ग्रहण हो? जीव का ग्रहण प्रज्ञाहि से।
 ज्यों अलग प्रज्ञा से किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से॥ 296॥
 कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो मैं ही हूँ।
 अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥ 297॥
 कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, दृष्टा है सो मैं ही हूँ।
 अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥ 298॥
 कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, ज्ञाता है सो मैं ही हूँ।
 अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥ 299॥
 सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्म को।
 वह कौन ज्ञानी 'मेरा है यह', यों वचन बोले अहो!॥ 300॥
 अपराध चौर्यादिक करै जो, पुरुष वह शङ्कित फिरै।
 को लोक में फिरते हुए को, चोर जान जु बाँध लें॥ 301॥
 अपराध जो करता नहीं, निःशङ्क लोकविषैं फिरै।
 'बँध जाऊँगा' — ऐसी कभी, चिन्ता न उसको होय है॥ 302॥
 त्यों आतमा अपराधी, 'मैं बँधता हूँ' — यों हि संशक है।
 अरु निरपराधी आतमा, 'नाहीं बँधू' निःशङ्क है॥ 303॥
 संसिद्धि सिद्धि जु राध, अरु साधित, अराधित एक है।
 ये राध से जो रहित है, वह आतमा अपराध है॥ 304॥
 अरु आतमा जो निरपराधी, होय है निःशङ्क वो।
 वर्ते सदा आराधना में, जानता 'मैं' आत्म को॥ 305॥

अरु शुद्धि, निन्दा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुम्भ हैं॥ 306॥

अनप्रतिक्रमण, अनप्रतिसरण, अनपरिहरण, अनधारणा।

अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिन्द, अशुद्धि अमृतकुम्भ हैं॥ 307॥

सवैया

ज्यों नर कोय पस्थो दृढबन्धन, बन्धस्वरूप लखै दुःखकारी,

चिंत करै निति कैम कटे यह, तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी।

छेदनकूं गहि आयुध धाय, चलाय निशङ्क करै दुय धारी,

यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि, कर्म रु आतम आप गहारी।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

अब, नाटक के रूप में रचित इस ग्रन्थराज समयसार का अन्तिम नवाँ दृश्य प्रारम्भ होता है। इसमें जीवतत्त्व से लेकर मोक्षतत्त्व तक के स्वाँग दिखाने के बाद, सभी तत्त्वों में चैतन्यस्वरूप प्रकाशित होनेवाले ज्ञान के सर्वविशुद्धस्वरूप का प्रकाशन कराया गया है। यहाँ भगवान आत्मा सर्वविशुद्ध ज्ञानमय ही होने से अधिकार के अन्त में उसे रङ्गमञ्च से बाहर नहीं किया गया है।

देह में रहनेवाला भगवान आत्मा, देहादि परद्रव्यों व उनके भावों से रहित कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से रहित, बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित, ज्ञान! ज्ञान!! ज्ञान!!! मात्र ज्ञानस्वभाववाला है। ज्ञानस्वरूप आत्मा को अपने ज्ञान की स्वच्छता के कारण ज्ञेयों का, विश्व के समस्त द्रव्य-गुणपर्यायों का जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान, आत्मा का है; वह पर द्रव्यों का, ज्ञेयों का नहीं है। आचार्य

श्रीकुन्दकुन्ददेव प्रेरणा करते हैं — 'हे भव्य जीवों! विश्व के द्रव्यों से दृष्टि हटाकर पूर्ण ज्ञानस्वरूप, एक निज परमात्मा को देखो! अपने उपयोग को ज्ञानस्वरूप में स्थापित करके निज भगवान् आत्मा का ध्यान करो! निज भगवान् आत्मा का अनुभव करो! उसी में विहार करो!! तुम्हें नियम से अक्षय सुख की प्राप्ति होगी!!!'

दोहा

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम।

परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम॥

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो।

है जगत में कटकादि पर्यायों से, कनक अनन्य ज्यों॥ 308॥

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रों विषैं जिनवर कहे।

वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से॥ 309॥

उपजै न आत्मा कोई से, इससे न आत्मा कार्य है।

उपजावता नहीं कोई को, इससे न कारण भी बने॥ 310॥

रे! कर्म आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।

आश्रित हुए उपजे नियम से, अन्य नहीं सिद्धि दिखै॥ 311॥

पर जीव प्रकृति के निमित्त जु, उपजता नशता अरे!।

अरु प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है॥ 312॥

अन्योन्य के जु निमित्त से, यों बन्ध दोनों का बने।

इस जीव प्रकृति उभय का, संसार इससे होय है॥ 313॥

उत्पाद-व्यय प्रकृति-निमित्त जु, जबहि तक नहीं परितजे।

अज्ञानी, मिथ्यात्वी, असंयत, तबहि तक वह जीव रहे॥ 314॥

ये आत्मा जबहि करम का, फल अनन्ता परितजे।

ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि, वो ही कर्मविमुक्त है॥ 315॥

अज्ञानी स्थित प्रकृति स्वभाव, सु कर्मफल को वेदता।

अरु ज्ञानी तो जाने उदयगत, कर्मफल नहीं भोगता॥ 316॥

सद्ग्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।

ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी, सर्प नहीं निर्विष बने॥ 317॥

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानीजन है, कर्मफल को जानता।

कड़वे-मधुर बहु भाँति को, इससे अवेदक है अहा!॥ 318॥

करता नहीं, नहीं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँति को।

बस जानता ये बन्ध त्यों ही, कर्मफल शुभ-अशुभ को॥ 319॥

ज्यों नेत्र त्यों ही ज्ञान नहीं, कारक नहीं वेदक अहो!।

जाने ही कर्मोदय, निरजरा, बन्ध त्यों ही मोक्ष को॥ 320॥

ज्यों लोक माने 'देव-नारक, आदि जीव विष्णु करे'।

त्यों श्रमण भी माने कभी, 'षट्काय को आत्मा करे'॥ 321॥

तो लोक-मुनि सिद्धान्त एकहि, भेद इसमें नहीं दिखे।

विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे॥ 322॥

इस भाँति लोक-मुनि उभय का, मोक्ष कोई नहीं दिखे।

जो देव, मानव, असुर के, त्रयलोक को नित्यहि करे॥ 323॥

व्यवहारमूढ़, अतत्त्वविद्, परद्रव्य को मेरा कहे।

'अणुमात्र भी मेरा नहीं', ज्ञानी जाने निश्चय ही से। 324॥

ज्यों पुरुष कोई कहे, 'हमारा ग्राम, पुर, अरु देश है'।

पर वह नहीं उसके अरे!, जीव मोह से 'मेरा' कहे॥ 325॥

इस रीत ही जो ज्ञानी भी, 'मुझ' जानता परद्रव्य को।
 वह जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को॥ 326॥
 इससे 'न मेरा' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की।
 कर्तृत्वबुद्धि जानता, जाने, सुदृष्टिरहित की॥ 327॥
 मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वी जो जीव को करे॥
 तो यह अचेतन प्रकृति ही, कारक बने तुझ मत विषे!॥ 328॥
 अथवा करे जो जीव, पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
 तो ते बने मिथ्यात्वी पुद्गलद्रव्य, आत्मा नहीं बने॥ 329॥
 जो जीव अरु प्रकृति करे, मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
 तो उभयकृत जो होय तत्फल, भोग भी हो उभय को॥ 330॥
 जो प्रकृति नहीं, नहीं जीव करे, मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
 पुद्गलदरब मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो?॥ 331॥
 कर्महि करें अज्ञानी त्यों ही, ज्ञानी भी कर्महि करें।
 कर्महि सुलाते जीव को, त्यों कर्म ही जागृत करें॥ 332॥
 अरु कर्म ही करते सुखी, कर्म ही दुःखी जीव को करें।
 कर्म ही करें मिथ्यात्वी, त्यों ही असंयमी कर्म ही करें॥ 333॥
 कर्म ही भ्रमावे ऊर्ध्वलोक रु, अधः अरु तिर्यक् विषै।
 अरु कुछ भी जो शुभ या अशुभ, उन सर्व को कर्म ही करें॥ 334॥
 करता करम, देता करम, हरता करम, सब-कुछ करे।
 इस हेतु से यह है सुनिश्चित, जीव अकारक सर्व है॥ 335॥
 'पुँकर्म इच्छे नारी को, स्त्री कर्म इच्छे पुरुष को'।
 ऐसी श्रुती आचार्यदेव, परम्परा अवतीर्ण है॥ 336॥

इस रीत 'कर्महि कर्म को इच्छे', कहा है शास्त्र में।
 अब्रह्मचारी यों नहीं को, जीव हम उपदेश में॥ 337॥
 अरु जो हने पर को, हनन हो पर से, वोह प्रकृति है।
 इस अर्थ में परघात नामक, कर्म का निर्देश है॥ 338॥
 इस रीत 'कर्म ही कर्म को हनता' कहा है शास्त्र में।
 इससे न को भी जीव है, हिंसक जु हम उपदेश में॥ 339॥
 यों सांख्य का उपदेश ऐसा, जो श्रमण वर्णन करे।
 उस मत से सब प्रकृति करे, जीव तो अकारक सर्व है॥ 340॥
 अथवा तू माने 'आत्मा, मेरा स्व-आत्मा को करे'।
 तो ये जो तुझ मन्तव्य भी, मिथ्या स्वभावहि तुझ अरे॥ 341॥
 जीव नित्य है त्यों, है असंख्य प्रदेशी दर्शित समय में।
 उससे न उसको हीन, त्योंहि न अधिक कोई कर सके॥ 342॥
 विस्तार से जीवरूप जीव का, लोकमात्र प्रमाण है।
 क्या उससे हीन रुं अधिक बनता, द्रव्य को कैसे करे?॥ 343॥
 माने तू 'ज्ञायकभाव तो, ज्ञानस्वभाव स्थित रहे'।
 तो यों भी यह आत्मा स्वयं, निज आत्मा को नहीं करे॥ 344॥
 पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
 इससे करै है वो ही, या को अन्य, नहीं एकान्त है॥ 345॥
 पर्याय कुछ से नष्ट जीव, कुछ से न जीव विनष्ट है।
 यों जीव वेदे वो ही, या को अन्य, नहीं एकान्त है॥ 346॥
 जीव जो करै वह भोगता नहीं, जिसका यह सिद्धान्त है।
 अर्हन्त के मत का नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है॥ 347॥

जीव अन्य करता, अन्य वेदे, जिसका यह सिद्धान्त है।
 अर्हन्त के मत का नहीं, वह जीव मिथ्यादृष्टि है॥ 348॥
 ज्यों शिल्पि कर्म करे, परन्तु वह नहीं तन्मय बने।
 त्यों कर्म को आत्मा करे, पर वह नहीं तन्मय बने॥ 349॥
 ज्यों शिल्पि करणों से करे, पर वह नहीं तन्मय बने।
 त्यों जीव करणों से करे, पर वह नहीं तन्मय बने॥ 350॥
 ज्यों शिल्पि करण ग्रहे, परन्तु वह नहीं तन्मय बने।
 त्यों जीव करणों को ग्रहे, पर वह नहीं तन्मय बने॥ 351॥
 शिल्पि करमफल भोगता, पर वह नहीं तन्मय बने।
 त्यों जीव करमफल भोगता, पर वह नहीं तन्मय बने॥ 352॥
 इस भाँति मत व्यवहार का, संक्षेप से वक्तव्य है।
 सुनलो वचन परमार्थ का, परिणाम विषयक जोहि है॥ 353॥
 शिल्पि करे चेष्टा अवरु, उस ही से शिल्पि अनन्य है।
 त्यों जीव कर्म करे अवरु, उस ही से जीव अनन्य है॥ 354॥
 चेष्टित हुआ शिल्पी निरन्तर, दुःखित जैसे होय है।
 अरु दुःख से शिल्पि अनन्य, त्यों चेष्टमान जीव दुःखी बने॥ 355॥
 ज्यों सेटिका नहीं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
 ज्ञायक नहीं त्यों अन्य का, ज्ञायक अहो ज्ञायक तथा॥ 356॥
 ज्यों सेटिका नहीं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
 दर्शक नहीं त्यों अन्य का, दर्शक अहो दर्शक तथा॥ 357॥
 ज्यों सेटिका नहीं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
 संयत नहीं त्यों अन्य का, संयत अहो संयत तथा॥ 358॥

ज्यों सेटिका नहीं अन्य की, है सेटिका बस सेटिका।
 दर्शन नहीं त्यों अन्य का, दर्शन अहो दर्शन तथा॥ 359॥
 यों ज्ञान-दर्शन-चरित विषयक, कथन नय परमार्थ का।
 सुनलो वचन संक्षेप से, इस विषय में व्यवहार का॥ 360॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
 ज्ञाता भी त्यों ही जानता, परद्रव्य को निज भाव से॥ 361॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
 आत्मा भी त्यों ही देखता, परद्रव्य को निज भाव से॥ 362॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
 ज्ञाता भी त्यों ही त्यागता, परद्रव्य को निज भाव से॥ 363॥
 ज्यों श्वेत करती सेटिका, परद्रव्य आप स्वभाव से।
 सुदृष्टि त्यों ही श्रद्धता, परद्रव्य को निज भाव से॥ 364॥
 यों ज्ञान-दर्शन-चरित में, निर्णय कहा व्यवहार का।
 अरु अन्य पर्यय विषय में भी, इस प्रकार ही जानना॥ 365॥
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहीं अचेतन विषय में।
 इस हेतु से यह आत्मा, क्या हन सके उन विषय में?॥ 366॥
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहीं अचेतन कर्म में।
 इस हेतु से यह आत्मा, क्या हन सके उन कर्म में?॥ 367॥
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान किञ्चित्, नहीं अचेतन काय में।
 इस हेतु से यह आत्मा, क्या हन सके उस काय में?॥ 368॥
 है ज्ञान का, सम्यक्त का, उपघात चारित्र का कहा।
 वहाँ और कुछ भी नहीं कहा, उपघात पुद्गलद्रव्य का॥ 369॥

जो जीव के गुण हैं नियत, वे कोई नहीं परद्रव्य में।
 इस हेतु से सदृष्टि जीव को, राग नहीं है विषय में॥ 370॥
 अरु राग-द्वेष-विमोह तो, जीव के अनन्य परिणाम हैं।
 इस हेतु से शब्दादि विषयों, में नहीं रागादि हैं॥ 371॥
 को द्रव्य दूसरे द्रव्य में, उत्पाद नहीं गुण का करे।
 इस हेतु से सब ही दरब, उत्पन्न आप स्वभाव से॥ 372॥
 पुद्गलदरब बहु भाँति निन्दा-स्तुति वचनरूप परिणमे।
 सुनकर उन्हें 'मुझको कहा', गिन रोष-तोष जु जीव करे॥ 373॥
 पुद्गलदरब शब्दत्व परिणत, उसका गुण जो अन्य है।
 तो नहीं कहा कुछ भी तुझे, हे अबुध! रोष तू क्यों करे?॥ 374॥
 शुभ या अशुभ जो शब्द वह, 'तू सुन मुझे' न तुझ कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, कर्णगोचर शब्द को॥ 375॥
 शुभ या अशुभ जो रूप वह, 'तू देख मुझको' नहीं कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, चक्षुगोचर रूप को॥ 376॥
 शुभ या अशुभ जो गन्ध वह, 'तू सूँघ मुझको' नहीं कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, घ्राणगोचर गन्ध को॥ 377॥
 शुभ या अशुभ रस कोई भी, 'तू चाख मुझको' नहीं कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, रसनगोचर स्वाद को॥ 378॥
 शुभ या अशुभ जो स्पर्श वह, 'तू स्पर्श मुझको' नहीं कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, कायगोचर स्पर्श को॥ 379॥
 शुभ या अशुभ गुण कोई भी, 'तू जान मुझको' नहीं कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, बुद्धिगोचर गुण अरे!॥ 380॥

शुभ या अशुभ जो द्रव्य वह, 'तू जान मुझको' नहीं कहे।
 अरु जीव भी नहीं ग्रहण जावे, बुद्धिगोचर द्रव्य रे॥ 381॥
 यह जानकर भी मूढ़ जीव, पावे नहीं उपशम अरे!
 शिवबुद्धि को पाया नहीं, वह पर ग्रहण करना चहे॥ 382॥
 शुभ और अशुभ अनेकविध, के कर्म पूरब जो किये।
 उनसे निवर्ते आत्म को, वह आतमा प्रतिक्रमण है॥ 383॥
 शुभ अरु अशुभ भावी करम का, बन्ध हो जिन भाव में।
 उनसे निवर्तन जो करे, वह आतमा पच्चखाण है॥ 384॥
 शुभ और अशुभ अनेक विध हैं, उदित जो इस काल में।
 उन दोष को जो चेतता, आलोचना वह जीव है॥ 385॥
 पच्चखाण नित्य करे अरु, प्रतिक्रमण जो नित्यहि करे।
 नित्यहि करे आलोचना, वह आतमा चारित्र है॥ 386॥
 जो कर्मफल को वेदता, जीव कर्मफल निजरूप करे।
 वह पुनः बाँधे अष्टविध के, कर्म को-दुःख बीज को॥ 387॥
 जो कर्मफल को वेदता, जाने करमफल मैं किया।
 वह पुनः बाँधे अष्टविध के, कर्म को-दुःख बीज को॥ 388॥
 जो कर्मफल को वेदता, जीव सुखी-दुःखी होय है।
 वह पुनः बाँधे अष्टविध के, कर्म को-दुःख बीज को॥ 389॥
 रे! शास्त्र है नहीं ज्ञान, क्योंकि शास्त्र कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, शास्त्र अन्य, प्रभु कहे॥ 390॥
 रे! शब्द है नहीं ज्ञान, क्योंकि शब्द कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, शब्द अन्य, प्रभु कहे॥ 391॥

रे! रूप है नहीं ज्ञान, क्योंकि रूप कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, रूप अन्य, प्रभु कहे॥ 392॥
 रे! वर्ण है नहीं ज्ञान, क्योंकि वर्ण कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, वर्ण अन्य, प्रभु कहे॥ 393॥
 रे! गन्ध है नहीं ज्ञान, क्योंकि गन्ध कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, गन्ध अन्य, प्रभु कहे॥ 394॥
 रे! रस नहीं है ज्ञान, क्योंकि रस जु कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, अन्य रस, जिनवर कहे॥ 395॥
 रे! स्पर्श है नहीं ज्ञान, क्योंकि स्पर्श कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, स्पर्श अन्य, प्रभु कहे॥ 396॥
 रे! कर्म है नहीं ज्ञान, क्योंकि कर्म कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, कर्म अन्य, जिनवर कहे॥ 397॥
 रे! धर्म है नहीं ज्ञान, क्योंकि धर्म कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, धर्म अन्य, जिनवर कहे॥ 398॥
 नहीं है अधर्म जु ज्ञान, क्योंकि अधर्म कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, अधर्म अन्य, जिनवर कहे॥ 399॥
 रे! काल है नहीं ज्ञान, क्योंकि काल कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, काल अन्य, प्रभु कहे॥ 400॥
 आकाश है नहीं ज्ञान, क्योंकि आकाश कुछ जाने नहीं।
 इस हेतु से आकाश अन्य रु, ज्ञान अन्य, प्रभु कहे॥ 401॥
 रे! ज्ञान अध्यवसान नहीं, क्योंकि अचेतन रूप है।
 इस हेतु से है ज्ञान अन्य रु, अन्य अध्यवसान है॥ 402॥

रे! सर्वदा जानेहि इससे, जीव ज्ञायक ज्ञानी है।
 अरु ज्ञान है ज्ञायक से, अव्यतिरिक्त यों ज्ञातव्य है॥ 403॥
 सम्यक्त्व अरु संयम तथा, पुर्वाङ्गीगत सब सूत्र जो।
 धर्माधरम दीक्षा सबहि, बुध पुरुष माने ज्ञान को॥ 404॥
 यों आत्मा जिसका अमूर्तिक, वह न आहारक बने।
 पुद्गलमयी आहार यों, आहार तो मूर्तिक अरे॥ 405॥
 जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहीं, नहीं त्याग उसका हो सके।
 ऐसा ही उसका गुण कोई, प्रायोगिक अरु वैज्ञानिक है॥ 406॥
 इस हेतु से जो शुद्ध आत्मा, वह नहीं कुछ भी ग्रहे।
 छोड़े नहीं कुछ भी अहो!, जीव-अजीवरूप परद्रव्य में॥ 407॥
 मुनिलिङ्ग को अथवा, गृहस्थील्लिङ्ग को बहुभाँति के।
 ग्रहकर कहत हैं मूढजन, 'यह लिङ्ग मुक्तिमार्ग है'॥ 408॥
 वह लिङ्ग मुक्तिमार्ग नहीं, अर्हन्त निर्मम देह में।
 बस लिङ्ग तजकर ज्ञान अरु, चारित्र-दर्शन सेवते॥ 409॥
 मुनिलिङ्ग अरु गृहील्लिङ्ग ये, नहीं लिङ्ग मुक्तिमार्ग है।
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान को बस, मोक्षमार्ग प्रभु कहें॥ 410॥
 यों छोड़कर सागार या, अनगार धारित लिङ्ग को।
 चारित्र-दर्शन-ज्ञान में तू, जोड़ रे! निज आत्म को॥ 411॥
 तू स्थाप निज को मोक्षपथ में, ध्या, अनुभव तू उसे।
 उसमें हि नित्य विहार कर, न विहार कर परद्रव्य में॥ 412॥
 बहुभाँति के मुनिलिङ्ग में, अथवा गृहस्थील्लिङ्ग में।
 ममता करे उसने नहीं, जाना 'समय के सार' को॥ 413॥

व्यवहारनय इन लिङ्ग द्वय को, मोक्ष के पथ में कहे।
 निश्चय नहीं माने कभी, कोई लिङ्ग मुक्तिपन्थ में॥ 414॥
 यह समयप्राभृत पठन करके, जान अर्थ रु तत्त्व से।
 ठहरे अरथ में जीव जो, वह सौख्य उत्तम परिणमें॥ 415॥
 सवैया

सरव विशुद्धज्ञानरूप सदा चिदानन्द, करता न भोगता न परद्रव्यभावको;
 मूत अमूत जे आनद्रव्य लोकमाँहि, ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभावको।
 यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूँ भजै सदीव, ज्ञानरूप सुखतूप आन न लगावको;
 कर्म कर्मफलरूप चेतनाकूँ दूर टारि, ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्धभाव को॥

उपसंहार

समयसार को अर्थात् शुद्ध ज्ञायक परमात्मा को, प्रत्यक्ष करता हुआ अद्वितीय चक्षु श्रीसमयसार पूर्णता को प्राप्त होता है। जो भव्य जीव, श्रीसमयसार को सुनकर ज्ञानमात्र आत्मा में सर्व उद्यम से स्थित होंगे — वे उत्तम, स्वाधीन, बाधारहित, अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त करेंगे। आचार्य भगवान कहते हैं — ‘हे भव्य जीवों! अपने ज्ञानस्वरूप के भान बिना भगवान आत्मा, नरक-तिर्यञ्च-कीड़ा-मकोड़ा आदि निकृष्ट योनियों में जन्म-मरण करता है। इसलिए यदि पाप के फल से डरते हो, निज आत्मा की मोक्षदशा-पूर्ण सुखदशा चाहते हो, तो इस समयसार का अभ्यास करो, श्रवण करो, निरन्तर स्मरण और ध्यान करो। तुम्हारा अविनाशी कल्याण होगा।’

इस प्रकार, तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा ग्रन्थाधिराज श्रीसमयसार का सङ्गीतमयी हिन्दी पद्यानुवाद सम्पूर्ण हुआ।

श्रीप्रवचनसार

तीर्थधाम मङ्गलायतन अर्थात् साधकों की साधनाभूमि।
 तीर्थधाम मङ्गलायतन किसी व्यक्ति विशेष, किसी वर्ग विशेष अथवा किसी धर्म विशेष का न होकर, जन-जन का बने; संसार को वीतरागता का सन्देश दे; अहिंसा के परम पवित्र मार्ग को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाये; वीतराग विज्ञानस्वरूप जैनधर्म के विलुप्तप्राय हो रहे वैभव को पुनः स्थापित करे; सम्पूर्ण विश्व को अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सदाचार एवं शाकाहार का पाठ पढ़ाये। — इन सर्वोदयी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये ही उत्तरप्रदेश के अलीगढ़ जनपद में लघु समयसारस्वरूप 'छहढाला' के रचयिता कविवर पण्डित दौलतरामजी की पुण्यधरा सासनी में, अलीगढ़-आगरा मुख्यमार्ग पर, इस तीर्थधाम मङ्गलायतन का उद्भव हुआ है।

जिनागम की सङ्गीतमय प्रस्तुतियों की शृंखला के दूसरे चरण में ग्रन्थाधिराज श्रीप्रवचनसार का सङ्गीतमय पद्यानुवाद प्रस्तुत है। दिव्यध्वनि के सार के रूप में प्रतिष्ठित इस ग्रन्थाधिराज का इससे पूर्व हिन्दी पद्यानुवाद ही नहीं हुआ था। इस कार्य को श्रीमती बीना जैन, देहरादून एवं जैनदर्शनाचार्य पण्डित राकेश जैन, अलीगढ़ ने अपने हाथों में लिया। दोनों मनीषियों ने मूलग्रन्थ, मूलटीका, गुजराती पद्यानुवाद को आधार बनाकर इस महान ग्रन्थाधिराज का प्रथमबार हिन्दी पद्यानुवाद करने का गौरव प्राप्त किया। हम दोनों के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव, सीमन्धरपरमात्मा के पास विदेहक्षेत्र में आठ दिन रहकर साक्षात् सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि सुनकर आये थे। ग्रन्थाधिराज श्रीप्रवचनसार के नाम, प्रौढ़ता, गम्भीरता आदि गुणों से ऐसा प्रतीत होता है, मानो विदेहक्षेत्र से लौटकर आने के बाद आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने सर्वप्रथम प्रवचनसारग्रन्थ की ही रचना की हो। यही कारण है कि प्रवचनसार को 'दिव्यध्वनि का सार' भी कहा जाता है।

श्रीप्रवचनसार महान श्रुत, दिव्यध्वनि अनुसार।

त्रिभुवन को कल्याणमयी, जीवों को सुखकार॥

जिनेन्द्रभगवान की सर्वज्ञता, जिनेन्द्रवर्णित विश्वव्यवस्था एवं जिनेन्द्रभगवान के शासन में मुनिधर्म का स्वरूप — इन तीन विषयों का विशद निरूपक ग्रन्थराज श्रीप्रवचनसार अपनी अभूतपूर्व विषयवस्तु के कारण अद्वितीय है। श्रीप्रवचनसार की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे तीन श्रुतस्कन्धों में विभाजित किया है — (1) ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन, (2) ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन और (3) चरणानुयोग-सूचक चूलिका। इन्हीं तीन महाधिकारों को महासमर्थ आचार्य जयसेनदेव ने क्रमशः सम्यग्ज्ञान-अधिकार, सम्यग्दर्शन-अधिकार और सम्यक्चारित्र-अधिकार नाम दिये हैं।

ज्ञान-ज्ञेय-आचरण का, दर्पण प्रवचनसार।

श्रीकुन्दकुन्द के चरण में, वन्दन बारम्बार॥

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन

अब, प्रथम अधिकार ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन अथवा सम्यग्ज्ञान अधिकार का प्रारम्भ करते हैं —

इस अधिकार में, सर्वप्रथम मङ्गलाचरण प्रस्तुत कर, आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव, शुद्धोपयोग एवं शुद्धोपयोग के फल का और इन्द्रियसुख एवं इन्द्रियसुख के कारणरूप शुभोपयोग का, सत्य स्वरूप दर्शाकर, चार गतियों के दुःखों से पीड़ित संसारी जीवों को, शुभ-अशुभपरिणाम त्यागकर, शुद्धोपयोगरूप वीतरागचारित्र ग्रहण करने की पावन प्रेरणा देते हुए कहते हैं — “हे आत्मन्! शुद्धोपयोगरूप परिणमित आत्माएँ ही निर्वाण प्राप्त करती हैं और शुभोपयोगरूप परिणमित आत्माएँ, स्वर्गादि प्राप्त कर संसार में ही परिभ्रमण करती रहती हैं।”

आत्मरमणतारूप शुद्धोपयोग का फल तो अतीन्द्रियज्ञान एवं अतीन्द्रियआनन्द है। अतीन्द्रियज्ञान अर्थात् अनन्तज्ञान! केवलज्ञान!! सर्वज्ञता!!! प्रत्येक आत्मा, सहज स्वभाव से ही अनादि-अनन्त, पूर्ण ज्ञानस्वरूप है; शरीर-मन-वाणी एवं पुण्य-पाप का अवलम्बन त्यागकर सर्वज्ञस्वभावी आत्मा में एकाग्र होने पर ही, अतीन्द्रियज्ञान द्वारा सर्वज्ञता प्रकट होती है। आचार्य भगवान्, सर्वज्ञता एवं सर्वज्ञस्वभावी आत्मा की महिमा गाते हुए, प्रत्येक आत्मा की समानता दर्शाकर, आत्मार्थियों को प्रेरणा करते हैं — “हे भव्य! तीन लोक के सर्व पदार्थों की तीन कालवर्ती पर्यायों को एक समय में परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एक साथ देखने-जानने वाले अरहन्त भगवान् के द्रव्य-गुण-पर्याय के समान ही, जो अपनी आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्यायस्वरूप जानता है, वह मोह का नाश करके शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।”

आचार्य भगवान् करुणापूर्वक कहते हैं — “हे भव्य! इन्द्रियों के अवलम्बन से होनेवाला इन्द्रियसुख, पराधीन है, बाधासहित है,

बन्ध का कारण है, विषम है, विच्छिन्न है; अतः परमार्थ से दुःख ही है; सुख नहीं है। हे आत्मन्! इन्द्रियसुख के कारणरूप शुभपरिणाम एवं दुःख के कारणरूप अशुभपरिणाम — ये समान ही हैं, क्योंकि नारकी आदि तो दुःखी हैं ही, इन्द्रादि देव भी सुखी नहीं हैं। अरे! विचार तो करो!! यदि वे सुखी होते तो पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति क्यों करते?”

आत्माश्रित, स्वाधीन, अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति हेतु आचार्य भगवान कहते हैं — “हे जीवों! यदि संसार समुद्र का किनारा चाहते हो, तो जिनेन्द्रकथित अनन्त द्रव्यपरम्परा में, स्व-पर के विवेक द्वारा, ज्ञानानन्द स्वभावी निज भगवान की पहचान करो। ज्ञानतत्त्व में लीन होकर, शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं धर्मरूप, केवलज्ञानरूप हुआ आत्मा ही शोभा को प्राप्त होता है। यही जिनेन्द्र प्रवचन का सार है।”

(दोहा)

ज्ञानतत्त्व के बोध से, केवलज्ञानी होय।

परम शान्ति सुख को लहूँ, नमूँ तिनहिं कर जोय॥

सुर-असुर-नरपति से वन्दित, क्षय किये घातिकर्म को।

नमन करूँ मैं धर्मकर्ता, तीर्थश्री महावीर को॥ 1॥

विशुद्ध सत्तावान शेष, तीर्थङ्कर अरु सिद्ध को।

मुनि ज्ञान-दृग-चारित्र-तप-वीर्याचरण संयुक्त को॥ 2॥

उन सर्व को युगपद् तथा प्रत्येक अरु प्रत्येक को।

मैं वन्दूँ सर्व मनुष्य क्षेत्रों में वर्तते अरहन्त को॥ 3॥

वन्दन करूँ इस रीत से अरहन्त को, श्री सिद्ध को।

आचार्यों उपाध्याय वर्ग को, सर्व साधु-समूह को॥ 4॥

शुद्ध दर्शन-ज्ञान मुख्याऽऽश्रम पवित्र उनका लहूँ।
 प्राप्ति करूँ मैं साम्य की, निर्वाण प्राप्ति भी करूँ॥ 5॥
 दर्शन-ज्ञान प्रधान जो, चारित्र जीव प्रगटाय तो।
 सुर-असुर वैभव-नरेन्द्र का, अरु मुक्ति लक्ष्मी पाय वो॥ 6॥
 चारित्र निश्चय धर्म है, जो धर्म है वह साम्य है।
 अरु साम्य है वह मोह-क्षोभ-विहीन जीव परिणाम है॥ 7॥
 जिस भावरूप से द्रव्य प्रणमे, उस काल तन्मय उस ही से।
 यों धर्म-परिणत आत्मा को, धर्ममय ही जानना॥ 8॥
 परिणाम-स्वभावी जीव जबहि, शुभ-अशुभरूप परिणमे।
 तब शुभ-अशुभ ही होय अरु अरु, शुद्धे प्रणमता शुद्ध बने॥ 9॥
 परिणाम बिन नहीं वस्तु है, नहीं वस्तु बिन परिणाम है।
 यों द्रव्य-गुण-पर्याय स्थित, अस्तित्व सिद्ध पदार्थ है॥ 10॥
 जो धर्म परिणत आत्मा हो, शुद्ध उपयोगी बने।
 शुभोपयोगी स्वर्ग को, शुद्धोपयोगी शिव लहे॥ 11॥
 तिर्यक कुनर अरु नारकी, होवे अशुभ के उदय में।
 संसार में भवभ्रमण करते, दुःख अनन्तों वो सहें॥ 12॥
 शुद्धोपयोग प्रसिद्ध जीव को, सुख अनूप अनन्त है।
 अतिशय विषयातीत, आत्मोत्पन्न अरु अविच्छिन्न है॥ 13॥
 सुविदित सूत्र-पदार्थ, संयम-तप सहित वीतराग हैं।
 सुख-दुःख में सम श्रमण को, शुद्धोपयोगी जिन कहें॥ 14॥
 शुद्धोपयोगी आत्मा स्वयमेव, घाति रहित हो।
 अरु सर्व ज्ञेय पदार्थ के भी, पार को फिर प्राप्त हो॥ 15॥

सर्वज्ञ, लब्ध स्वभाव अरु, पूजित त्रिलोकाधीश से।
 स्वयमेव होता जीव इससे, 'स्वयंभू' जिनवर कहें॥ 16॥
 उत्पाद से है रहित व्यय, व्यय से रहित उत्पाद है।
 फिर भी उन्हीं के ध्रौव्ययुत, उत्पाद-व्यय का साथ है॥ 17॥
 जो द्रव्य है सद्भूत है, परिणमन नित्य किया करे।
 वो ही दरब उत्पाद-व्यय भी, प्रतिसमय नित्य ही करे॥ 18॥
 प्रक्षीण घातिकर्म, अतिशय तेज, वीर्य अनन्त है।
 ज्ञानसुख भी है अनन्त, अतीन्द्रिय परिणमित है॥ 19॥
 रे! केवली के देहगत सुख है नहीं, दुःख भी नहीं।
 उनके अतीन्द्रियता हुई, इस हेतु से यह जानना॥ 20॥
 प्रत्यक्षता सब द्रव्य की, पर्याय की है ज्ञान में।
 अवग्रह आदि क्रियाओं से, नहीं केवली जिन जानते॥ 21॥
 जो सदा इन्द्रियातीत, लेकिन अक्ष गुण समृद्ध हैं।
 स्वयमेव ज्ञानरूप परिणमें, केवलि के कुछ न परोक्ष है॥ 22॥
 यह आत्म ज्ञान-प्रमाण है, अरु ज्ञान ज्ञेय-प्रमाण है।
 अरु ज्ञेय लोकालोक इससे, सर्वगत यह ज्ञान है॥ 23॥
 'यह जीव ज्ञान-प्रमाण नहीं', यह मान्यता जिस मत विषे।
 जीव ज्ञान से हीन अधिक होवे, अवश्य ही उस मत विषे॥ 24॥
 यदि ज्ञान से हो हीन आत्मा, तो जड़ कभी जाने नहीं।
 यदि अधिक होवे आत्मा, तो ज्ञान-बिन जाने नहीं॥ 25॥
 हैं सर्वगत जिनवर अरु, सब ज्ञेय जिनवर प्राप्त हैं।
 जिन ज्ञानमय हैं, द्रव्य सब, जिन ज्ञान विषय जु होय हैं॥ 26॥

जिनवर कहें, 'है ज्ञान आत्मा', आत्म बिन नहीं ज्ञान है।
 इस हेतु से है ज्ञान जीव; जीव ज्ञान है वा, अन्य है॥ 27॥
 हैं ज्ञानी ज्ञान-स्वभाव अरु, सब द्रव्य ज्ञेय-स्वभाव हैं।
 नहीं वर्तते अन्योन्य में ज्यों, नेत्र अन्य, रूप अन्य है॥ 28॥
 ज्ञेयों में प्रविष्ट न अप्रविष्ट, जानता जग सर्व को।
 नित्य ही अतीन्द्रिय आत्मा, ज्यों नेत्र जाने रूप को॥ 29॥
 ज्यों दुग्ध-स्थित इन्द्रनील, मणि स्वयं ही की प्रभा से।
 सर्वाङ्ग में हो व्याप्त, त्यों ज्ञान भी द्रव्यों विषे॥ 30॥
 नहीं हों पदार्थ जो ज्ञान में, तो ज्ञान सर्वगत हो नहीं।
 यदि सर्वगत है ज्ञान तो वे, ज्ञान में कैसे नहीं?॥ 31॥
 पर को ग्रहें-छोड़ें नहीं, नहीं परिणमों पररूप जो।
 जिन-केवली तो देखें-जानें, सर्व ओर से सर्व को॥ 32॥
 इस आत्म को श्रुत से नियत, ज्ञायक-स्वभाव जो जानते।
 ऋषिगण-प्रकाशक लोक के, श्रुतकेवली उनको कहें॥ 33॥
 पुद्गलात्मक वचन द्वारा, प्रभु ने दिया उपदेश है।
 है जानना ही ज्ञान उसका, ज्ञप्ति वो ही श्रुतज्ञान है॥ 34॥
 जो जानता वह ज्ञान है, ज्ञायक नहीं जीव ज्ञान से।
 स्वयमेव ज्ञान-स्वरूप है, अरु ज्ञान में सब द्रव्य हैं॥ 35॥
 जीव ज्ञान है इस हेतु से अरु, ज्ञेय त्रिधामय द्रव्य हैं।
 हैं द्रव्य स्व-पर रूप, अरु परिणाम से संयुक्त हैं॥ 36॥
 उन द्रव्यों की सद्भूत — असद्भूत, पर्यायें जो सर्व हैं।
 तत्कालवत् ही विशिष्टता से, वर्तती हैं ज्ञान में॥ 37॥

अनुत्पन्नवत जो पर्यये, उत्पन्न होकर विनशी हैं।
 वे सर्व नहीं सद्भूत पर, प्रत्यक्ष हैं वे ज्ञान में॥ 38॥
 अनुत्पन्न अरु विनष्ट पर्यायों, की ज्ञान-प्रत्यक्षता।
 होवे नहीं जो ज्ञान को, फिर कौन दिव्य कहे भला?॥ 39॥
 जो इन्द्रिगोचर द्रव्य को, ईहादिकपूर्वक जानते।
 उनके परोक्ष पदार्थ जानना, शक्य नहीं जिनवर कहे॥ 40॥
 जो जानता अप्रदेश को, सप्रदेश, मूर्त-अमूर्त को।
 नष्ट-अनुत्पन्न पर्याय को, अतीन्द्रिय कहा उस ज्ञान को॥ 41॥
 ज्ञाता जो परिणमे ज्ञेय अर्थे, तो ज्ञान क्षायिक उसे नहीं।
 जिनदेव कहते वो अनुभव करता है कर्मों का ही॥ 42॥
 जिनवर कहें संसारी को है, नियत उदय कर्माश का।
 उन माँहि रागी-द्वेषी-मोही, करे अनुभव बन्धन का॥ 43॥
 धर्मोपदेश, विहार, आसन, स्थान श्रीअरिहन्त के।
 वर्ते सहज निज काल में, मायाचरण ज्यों नारि के॥ 44॥
 हैं पुण्यफल अरिहन्त के, है क्रिया उनकी औदयिकी।
 पर हैं रहित मोहादि से, इस हेतु किरिया क्षायिकी॥ 45॥
 आत्मा स्वयं निजभाव से यदि, शुभ-अशुभ नहीं परिणमे।
 तो सर्व जीव-निकायों के, संसार भी कैसे बने?॥ 46॥
 वर्तमान अरु अविद्यमान, विषम-विचित्र पदार्थ को।
 जाने जो युगपद् सर्वतः, क्षायिक कहा उस ज्ञान को॥ 47॥
 जाने न युगपत् जो त्रिकालिक, द्रव्यों को त्रि-भुवन के।
 उसको सपर्यय एक द्रव्य, भी जानना जु अशक्य है॥ 48॥

नहीं जानता जो अनन्त पर्ययवान एक हि द्रव्य को।
 युगपद् कैसे जाने वह, अनन्त द्रव्य समूह को?॥ 49॥
 यदि ज्ञान हो उत्पन्न क्रम से, अर्थ के अवलम्ब से।
 तो नित्य नहीं, क्षायिक नहीं, नहीं सर्वगत है ज्ञान ये॥ 50॥
 त्रिकाल नित्य विषम सकल, सर्वत्र पदार्थ समूह को।
 जिन-ज्ञान जाने युगपदे, यह ज्ञान की महिमा अहो!॥ 51॥
 जो जानता सब द्रव्य को; ग्रहता नहीं, नहीं उपजता।
 नहीं परिणमें उन द्रव्यरूप, जीव अबन्धक वह कहा॥ 52॥
 अर्थों का ज्ञान मूर्त-अमूर्त, ऐन्द्रिय-अतीन्द्रिय है।
 इस ही प्रकार सुख भी कहा, पर श्रेष्ठ जो वही ग्राह्य है॥ 53॥
 जो देखता मूर्तिक-अमूर्तिक, अतीन्द्रिय अरु प्रच्छन्न को।
 देखता है स्व रु पर को, प्रत्यक्ष होता ज्ञान वो॥ 54॥
 स्वयं अमूर्तिक जीव, मूर्तिक-देहगत इस मूर्त से।
 5 मूर्त योग्य अवग्रही, कभी जाने, कभी जाने नहीं॥ 55॥
 स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण अरु जो, शब्द पुद्गल के कहे।
 हैं इन्द्रियों के विषय फिर भी, नहीं इन्द्रियाँ युगपद् ग्रहे॥ 56॥
 हैं इन्द्रियाँ परद्रव्य, आत्म-स्वभाव उनको नहीं कहा।
 उनके निमित्त जु ज्ञान, वो प्रत्यक्ष कैसे आत्म का॥ 57॥
 द्रव्य का जो ज्ञान पर से, होय वो तो परोक्ष है।
 जीवमात्र से जाने यदि, तो ज्ञान वो प्रत्यक्ष है॥ 58॥
 सर्वांग से स्वोत्पन्न, अर्थ अनन्त में फैलाव जो।
 अवग्रह आदि से रहित, निर्मल ऐकान्तिक ज्ञान वो॥ 59॥

जो ज्ञान 'केवल', सुख वही अरु वो ही है परिणाम भी।
 कारण नहीं वो खेद का, हो घातिकर्म विनाश से॥ 60॥
 पदार्थ के है पार ज्ञान, अरु दर्शन विस्तृत विश्व में।
 है नष्ट सर्व अनिष्ट अरु; जो इष्ट, वह सब प्राप्त है॥ 61॥
 'घातिकर्म-विहीन का सुख, परम है, उत्कृष्ट है'।
 यह वचन सुनकर जो न श्रद्धे; भव्य नहीं, वो अभव्य है॥ 62॥
 सुर-असुर-इन्द्र-नरेन्द्र पीड़ित, सहज इन्द्रिय-विषय से।
 नहीं सह सकें वो दुःख, इससे रम्य विषयों में रमें॥ 63॥
 जो विषयों में हैं रत उनको, दुःख स्वाभाविक जानना।
 यदि दुःख न हो स्वभाव से, तो विषयों में व्यापार ना॥ 64॥
 इन्द्रिय-आश्रित इष्ट-विषय को, पाकर अपने स्वभाव से।
 स्वयं सुखमय होय है जिव, नहीं देह सुखरूप परिणमे॥ 65॥
 नहीं स्वर्ग में भी देह देता, जीव को सुख नियम से।
 विषयों के वश जीव स्वयं ही, सुख-दुःखरूप ही परिणमे॥ 66॥
 यदि दृष्टि प्राणी की तिमिर-हर, तो काम क्या है दीप से?।
 यदि जीव सुखमय परिणमे तो, काम क्या है विषयों से?॥ 67॥
 नभ में ज्यों सूरज स्वयं ही; तेज उष्ण अरु देव है।
 त्यों ज्ञान, सुख अरु देव जग में, सिद्ध प्रभु स्वयंमेव हैं॥ 68॥
 जो आत्मा है शुभोपयोगी, वो लीन उपवासादि में।
 गुरु-देव-यति की पूजा में, अरु दान में वा सुशील में॥ 69॥
 आत्मा जो शुभोपयोगी, देव-नर-तिर्यक बने।
 अरु काल उतने जीव वो, विविध इन्द्रिय सुख लहे॥ 70॥

देवों का भी सुख नहीं है, स्वभाव-सिद्ध आगम कहे।
 तन-वेदना से हैं वे पीड़ित, रम्य विषयों में रमे॥71॥
 यदि सुर-असुर-नर-नारकी सब, देहगत दुःख अनुभवें।
 तो जीव का उपयोग शुभ, अरु अशुभरूप कैसे बने?॥72॥
 वज्रधर रु चक्रधर, शुभ-उपयोग मूलक भोग से।
 पुष्टि करें देहादि की, अभिरत रहें व सुखी दिखें॥73॥
 शुभोपयोग परिणाम भी, जिस पुण्य का सञ्चय करे।
 वह स्वर्ग तक के जीवों को, विषय-तृष्णा ही करे॥74॥
 वे जीव तृष्णाभाव से, चिरकाल तक दुःख को सहें।
 अरु दुःख से संतप्त होकर, विषयों के सुख को चहें॥75॥
 इन्द्रियों से प्राप्त सुख, पर-आश्रित है दुःख ही है।
 बाधासहित विच्छिन्न होता, बन्ध-कारण विषम है॥76॥
 इस रीत पुण्य रु पाप में अन्तर नहीं — जो माने नहीं।
 मोह पीड़ित मूढ़ वो, संसार में भ्रमता वही॥77॥
 इस भाँति वस्तु-स्वभाव जाने, राग-द्वेष नहीं करे।
 शुद्धोपयोगी जीव वह, क्षय देहगत दुःख का करे॥78॥
 छोड़ पापारम्भ को, शुभ-चरित उद्यत हो भले।
 नहीं छोड़ता मोहादि जो, नहीं शुद्ध-आत्मा वो लहे॥79॥
 जो जानता अरिहन्त को, नित द्रव्य-गुण-पर्याय से।
 वह जानता निज-आत्म को, अरु करे मोह-क्षय नियम से॥80॥
 जो मोहभाव को दूर करि, पाकर सम्यक् आत्म को।
 यदि राग-द्वेष को छोड़ता, वो पाता है शुद्धात्म को॥81॥

क्षय करके सर्वहि कर्मों का, अरिहन्त उस ही विधान से।
 उपदेश करके उसहि का, भये मुक्त, हो वन्दन उन्हें॥ 82॥
 द्रव्य-गुण-पर्याय में, जो मूढ़ता-अज्ञान है।
 मोह से आच्छन्न को, राग-द्वेष कर क्षोभित बने॥ 83॥
 रे! मोहरूप अरु रागरूप, अरु द्वेष परिणत जीव है।
 वे विविध पावें बंध सो, मोहादि सब क्षययोग्य हैं॥ 84॥
 पदार्थ का अयथार्थ धारण, करुणा मनुज-तिर्यञ्च की।
 अरु विषयों की संगति ग्रहण, पहचान हैं सब मोह की॥ 85॥
 जिनशास्त्र से, प्रत्यक्षादि से अर्थों को जो जानता।
 मोह निश्चय पावे नाश, सम-अध्ययन करना शास्त्र का॥ 86॥
 द्रव्य-गुण-पर्याय को है, अर्थ जिनवर ने कहा।
 आत्मा, गुण-पर्याय का द्रव्य, भिन्न नहीं वस्तु वहाँ॥ 87॥
 जो मोह-राग अरु द्वेष को, हनता है जिन उपदेश से।
 वो जीव मुक्ति पावे अल्प हि काल में सब दुःखों से॥ 88॥
 निज आत्म को निज ज्ञान से, अरु पर को उनके द्रव्य से।
 निश्चयपने संबद्ध जाने, जीव वो मोह क्षय करे॥ 89॥
 इसलिए यदि निज आत्म की, निर्मोहता जो चाहता।
 जिनमार्ग से द्रव्यों में गुण से स्व अरु पर को जानना॥ 90॥
 जिस श्रमण को सत्तामयी, भिन्न द्रव्यों की श्रद्धा नहीं।
 वे श्रमण नहीं, अरु उनमें उद्भव धर्म का होता नहीं॥ 91॥
 हैं कुशल आगम में अवरु मोह दृष्टि जिनकी विनष्ट है।
 आरुढ़ विराग चरित्र में, महात्मा श्रमण वो 'धर्म' हैं॥ 92॥

(दोहा)

ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता स्वयं, ज्ञानतत्त्व का सार।

ज्ञायक निज में ही रमूँ, नाश करूँ संसार॥

ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन

अब, द्वितीय अधिकार ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अथवा सम्यग्दर्शन अधिकार का प्रारम्भ करते हैं —

इस महाधिकार में ज्ञेय अर्थात् पदार्थ का स्वरूप स्पष्ट करते हुए सर्वप्रथम आचार्यदेव कहते हैं कि पदार्थ द्रव्यस्वरूप हैं, द्रव्य गुणात्मक हैं और द्रव्य-गुण से पर्यायें होती हैं, फिर भी पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्यायात्मक स्वरूप को न जानते हुए, जो मात्र असमानजातीय द्रव्यपर्याय स्वरूप मनुष्यादि पर्यायों में ही अहंबुद्धि धारण करते हैं, वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं, परसमय है तथा जो अपनी आत्मा के स्वभाव में ही स्थित हैं, लीन हैं — वे स्वसमय हैं, सम्यग्दृष्टि हैं।

सहज ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण निज भगवान् आत्मा की विराधना करके — अज्ञानी जगत्, सुख की लालसा से, विषयों में — परद्रव्यों में दौड़ लगाते हैं। आचार्य भगवान् कहते हैं — “अरे आत्मा! एक बार इन ज्ञेयों के स्वरूप का विचार तो करो! जीवादि छहों द्रव्यों को, उनके अनन्त-अनन्त गुण-पर्यायों सहित प्रत्यक्ष देखने वाले सर्वज्ञ जिनेन्द्रभगवान् ने कहा है कि अनादि-अनन्त नियमपूर्वक अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिस्वभाव को स्पर्श करते हुए, स्वयं में पूर्ण समर्थ, किसी भी द्रव्य को अपने परिणामन में, पर के सहयोग की रज्ज्वमात्र भी आवश्यकता नहीं है। हे भव्य! गहराई से विचार करो — शरीर, धन, मकान आदि स्कन्धों में अनन्त

परमाणु अपनी-अपनी पृथक् सत्ता में विराजते हुए, परस्पर सम्बन्धरहित हैं; अतः हे चेतन! इन शरीरादि स्कन्धों से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?”

आचार्य भगवान्, परद्रव्यों में ममता के परित्याग की पावन प्रेरणा करते हुए कहते हैं — “हे भव्य! शरीर, मन, वाणी के प्रति मध्यस्थ होकर, शरीरादि में ‘मैं ये और ये मेरे’ — ऐसी ममता को छोड़कर, ज्ञान-दर्शनरूप, अचल, निरालम्ब, एक, शुद्ध, ध्रुव आत्मा का ध्यान करते ही मोह का नाश होता है, और अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

(दोहा)

ज्ञेय तत्त्व को जानकर, निज को ज्ञेय बनाय।

ममता का परित्याग कर, पावे सुख शिवदाय॥

अर्थ द्रव्यस्वरूप है, अरु गुणात्मक वह द्रव्य है।

पर्यायों, गुण अरु द्रव्य की, पर्यायमूढ परसमय हैं॥ 93॥

पर्याय में रत जीव जो हैं, ‘परसमय’ उनको कहा।

लीन आत्मस्वभाव में जो, ‘स्वसमय’ वे जीव अहा!॥ 94॥

छोड़े बिना निजभाव को, उत्पाद-व्यय-ध्रुवयुक्त हैं।

गुण और पर्यायों सहित है, द्रव्य कहते हैं उन्हें॥ 95॥

सद्भाव द्रव्य-स्वभाव है, वह विविध गुण-पर्यायमय।

उत्पाद-व्यय अरु ध्रौव्यमय, लक्षण कहा है काल त्रय॥ 96॥

विविध लक्षण मध्य ‘सत्’ — यह एक लक्षण सर्वगत।

‘वस्तु-स्वभाव ही धर्म है’ — यह वचन हैं जिनवरवृषभ॥ 97॥

हे द्रव्य सिद्ध स्वभाव से अरु, ‘सत्’ है यह जिनवर कहे।

हे सिद्ध आगम से अरु, नहीं माने जिव परसमय वे॥ 98॥

जो है स्वभाव में अवस्थित, द्रव्य 'सत्' परिणाममय।
 उत्पाद-व्यय-ध्रुवतासहित, परिणाम द्रव्य-स्वभावमय॥ 99॥
 उत्पाद है नहीं भंगबिन, नहीं भंग, बिन उत्पाद के।
 उत्पाद-भङ्ग वर्ते नहीं, बिना ध्रौव्य पदार्थ के॥ 100॥
 उत्पाद, व्यय अरु ध्रौव्य तीनों, वर्तते पर्याय में।
 पर्याय होती द्रव्य में, इससे सभी वे द्रव्य हैं॥ 101॥
 उत्पाद, व्यय अरु ध्रौव्य नामक, अर्थ से जो युक्त है।
 अरु 'द्रव्य' एक ही समय में, इन तीन से संयुक्त है॥ 102॥
 उपजे दरव की अन्य पर्याय, अन्य कोई विनशती।
 पर द्रव्य न तो नष्ट है, उत्पन्न भी होता नहीं॥ 103॥
 द्रव्य - सत् दोनों अभिन्न, गुण से गुणान्तर परिणमे।
 इससे गुण-पर्याय को, एक द्रव्यमय है कहा अरे॥ 104॥
 द्रव्य न हो 'सत्' तो नियम से, वह 'असत्' हो जायेगा।
 सत्ता से हो भिन्न तो, वह 'सत्' कैसे रह पायेगा?॥ 105॥
 प्रदेश से यदि भिन्नता तो, 'पृथक्त्व' जिन उपदेश है।
 अन्यत्व अतद्भाव है, वो एक रूप कैसे बने?॥ 106॥
 सत् द्रव्य, सत् पर्याय, सत् गुण, सत्त्व का विस्तार है।
 अन्योन्य में जु अभाव, वो तद्रूप अतद् भाव है॥ 107॥
 जो द्रव्य है, वह गुण नहीं; जो गुण, नहीं वह द्रव्य है।
 परमार्थ से यह अतद्भाव; 'अभाव' नहीं जिनवर कहे॥ 108॥
 परिणाम द्रव्यस्वभाव सत्, गुण से वह अविशिष्ट है।
 स्वभावस्थित द्रव्य सत् है, ये ही जिन उपदेश है॥ 109॥

जग में कोई गुण, कोई पर्याय, द्रव्य बिन होती नहीं।
 द्रव्यत्व है वह भाव इससे, स्वयं द्रव्य ही सत्त्व है॥ 110॥
 ऐसा द्रव्य द्रव्यार्थ अरु पर्यायार्थ से निज भाव में।
 सद्भाव-असद्भावयुत, उत्पाद को निज ही करे॥ 111॥
 आत्मा मनुज हो, देव हो या अन्य कुछ ही रूप हो।
 क्या छोड़ता द्रव्यत्व को?, नहीं छोड़े तो अन्य कैसे हो?॥ 112॥
 मानव नहीं है देव अरु; जो देव, नर या सिद्ध नहीं।
 ऐसा नहीं होता हुआ, वह भाव-अनन्य कैसे धरे?॥ 113॥
 द्रव्यार्थ से सब द्रव्य हैं, पर्याय से वे अन्य हैं।
 द्रव्य तन्मय उससमय, इस हेतु से वो अनन्य है॥ 114॥
 अस्ति अरु है नास्ति, अवक्तव्य वो ही द्रव्य है।
 अरु उभय को पर्याय से, या अन्य त्रि-भङ्गरूप है॥ 115॥
 पर्याय नहीं शाश्वत कोई, अरु क्रिया सहज निष्पन्न नहीं।
 यदि धर्म निष्फल होय तो, क्रिया कोई निष्फल नहीं॥ 116॥
 स्वभाव से ही नाम नामक, कर्म जीव-स्वभाव को।
 अभिभूत कर तिर्यञ्च-नर, देव-नारक करता जीव को॥ 117॥
 नामकर्म निष्पन्न हैं जीव, तिर्यक-सुर-नर-नारकी।
 निज-निज कर्म से परिणमित, स्वभाव-उपलब्धि नहीं॥ 118॥
 उत्पाद-व्यययुत जीव भी, उपजे नहीं, नहिं विनशे।
 उत्पाद वो ही विनाश है, इससे हि भिन्न भी वे कहे॥ 119॥
 संसार में निजभाव अवस्थित, ऐसा कोई है नहीं।
 संसार है संसरण करते, द्रव्य की किरिया कही॥ 120॥

हो कर्म से आत्मा मलिन, कर कर्मयुत परिणाम को।
 हो कर्म-बन्धन उसके यों; कहते करम, परिणाम को॥ 121॥
 परिणाम स्वयं है आत्मा, अरु क्रिया है वह जीवमयी।
 क्रिया वही है कर्म, जीव द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं॥ 122॥
 जीव, चेतनारूप परिणमे, अरु चेतना है त्रिविधमयी।
 वह ज्ञान-विषयक, कर्म-विषयक, कर्मफल-विषयक कही॥ 123॥
 है 'ज्ञान' अर्थविकल्प अरु, जीव जो करे वह 'कर्म' है।
 है कर्म बहुविध, 'कर्मफल', वह सुख अथवा दुःख है॥ 124॥
 परिणाम-आत्मक आत्मा है, ज्ञान-कर्म-रु फलरूप है।
 इस हेतु से जीव ज्ञान-कर्म, अरु फलरूप प्रसिद्ध है॥ 125॥
 जीव ही करण, कर्ता, करम, फलरूप, यह निश्चय करी।
 मुनि अन्यरूप न परिणमे, प्राप्ति करें शुद्धात्म की॥ 126॥
 हैं द्रव्य जीव-अजीव अरु, जीव चेतना-उपयोग है।
 पुद्गल प्रमुख जो हैं अचेतन, द्रव्य सब ही अजीव है॥ 127॥
 आकाश का जो भाग जीव, अरु पुद्गलों से युक्त है।
 धर्म अधर्म रु काल से, समृद्ध नित यह लोक है॥ 128॥
 उत्पाद व्यय अरु ध्रौव्यता, जीव-पुद्गलात्मक लोक के।
 परिणमन द्वारा, भेद वा संघात द्वारा होय है॥ 129॥
 जिन लिंग द्वारा द्रव्य, जीव-अजीव होते ज्ञात हैं।
 वे अतद्भाव विशिष्ट, मूर्त-अमूर्त गुण ही जानिये॥ 130॥
 मूर्त पुद्गलद्रव्य के गुण, मूर्त इन्द्रियग्राह्य हैं।
 अमूर्त द्रव्यों के सब ही गुण, अमूर्तिक ही जानिए॥ 131॥

स्पर्श-रस अरु गन्ध-वर्ण, ये गुण हैं पुद्गलद्रव्य के।
 अति सूक्ष्म से पृथ्वी तलक, अरु शब्द सब पौद्गलिक ये॥ 132॥
 अवगाहगुण आकाश का, गतिहेतुता गुण धर्म का।
 अरु स्थानकारणता का गुण, जानो द्रव्य अधर्म का॥ 133॥
 है काल का गुण वर्तना, उपयोग गुण है जीव का।
 — ये गुण अमूर्तिक द्रव्य के, संक्षेप में जिनवर कहा॥ 134॥
 जीव पुद्गलकाय धर्म, अधर्म अरु आकाश के।
 हैं स्वप्रदेश अनेक अरु, नहीं हैं प्रदेश बहु काल के॥ 135॥
 लोक व्याप्त धर्म-अधर्म से, आकाश लोकालोक में।
 शेष द्रव्य आश्रित काल हैं, वे द्रव्य जीव-पुद्गल कहे॥ 136॥
 जैसे प्रदेश आकाश के, वैसे प्रदेश हैं शेष के।
 परमाणु अप्रदेश पर, उद्भव-प्रदेश उससे बने॥ 137॥
 आकाश द्रव्य-प्रदेश को, प्रदेशमात्र परमाणु जब।
 उल्लंघता है मन्दगति से, अप्रदेशी काल निमित्त तब॥ 138॥
 उल्लंघता नभ-प्रदेश को, तत्सम समय वह है 'समय'।
 ध्रुवता धरे वह कालद्रव्य, उत्पन्न-ध्वंसी है समय॥ 139॥
 परमाणु जितने क्षेत्र को, धारण करे वो 'प्रदेश' है।
 वो प्रदेश सब परमाणु को, अवकाश-दान समर्थ है॥ 140॥
 प्रदेश एक दो या बहुत, असंख्य अथवा अनन्त हैं।
 सब द्रव्यों के हैं यथा-यथा, अरु काल वह तो समय है॥ 141॥
 है काल का उत्पाद और विनाश एकहि समय में।
 तो भी अरे! वह काल अपने, भाव निज में ध्रुव रहे॥ 142॥

प्रत्येक क्षण उत्पाद-ध्रौव्य, विनाश अर्थ हैं काल के।
 सर्वदा हैं वर्तते, यही कालाणु का सद्भाव है॥ 143॥
 जिसके नहीं हैं प्रदेश या, नहीं एक भी परमार्थ से।
 वो अर्थ जानो शून्य, जो कि भिन्न है अस्तित्व से॥ 144॥
 सप्रदेशी अर्थ निष्ठित, सम्पूर्ण लोक जु नित्य है।
 ज्ञाता उसका जीव है, जो चार प्राण संयुक्त है॥ 145॥
 इन्द्रिय बल आयु अरु, श्वासोच्छ्वास जो प्राण हैं।
 ये चार प्राण संसार में, सर्व जीवों के होते हैं॥ 146॥
 जीता है, जीवेगा अरु, जीता था इन प्राण से।
 वह जीव है, पर प्राण तो, निष्पन्न पुद्गलद्रव्य से॥ 147॥
 मोहादि कर्म के बन्ध से, संयुक्त होकर प्राणों से।
 जीव कर्मफल को भोगता, फिर अन्य कर्मों से बँधे॥ 148॥
 जीव मोह-द्वेष के वश यदि, प्राण-घात जीवों का करे।
 वह जीव ज्ञानावरण आदिक, कर्मों के द्वारा बँधे॥ 149॥
 देह-विषय-भोगों में यह, जब तक न छोड़े मोह को।
 कर्म-मल से मलिन जीव, पुनि-पुनि धरे इन प्राण को॥ 150॥
 जो इन्द्रियों को विजयकर, उपयोग आत्मा ध्याय रे॥
 वह कर्म से रज्जित नहीं, क्यों प्राण उसको अनुसरें?॥ 151॥
 अस्तित्व-निश्चित अर्थ का, उत्पाद अन्य जो अर्थ में।
 वह अर्थ ही पर्याय है, संस्थान आदि से सहित॥ 152॥
 तिर्यञ्च-नारक-देव-नर जो, नामकर्म के उदय से।
 हैं जीव की पर्याय, होती भिन्न संस्थान आदि से॥ 153॥

अस्तित्व से निष्पन्न, त्रि-विकल्प द्रव्य-स्वभाव को।
 आत्मा जो जानता, पर में करे नहीं मोह वो॥ 154॥
 उपयोग आत्मक आत्मा, उपयोग दर्शन-ज्ञान है।
 आत्म का उपयोग वह, शुभ या अशुभरूप होय है॥ 155॥
 उपयोग यदि शुभ होय जीव के, पुण्य का सञ्चय वहाँ।
 पाप-सञ्चय अशुभ से; नहीं दोनों, सञ्चय नहीं वहाँ॥ 156॥
 जो जानता अरु श्रद्धता, जिनदेव-सिद्ध-अनगार को।
 जो सानुकम्प जीवों प्रति, उपयोग शुभ उस आत्म को॥ 157॥
 कुविचार-कुश्रुत-कुसङ्ग अरु, जो विषय-कषाय निमग्न है।
 जो उग्र अरु उन्मार्गगामि, उसका अशुभ उपयोग है॥ 158॥
 मध्यस्थ हो परद्रव्य में अरु, शुभ-अशुभ से रहित मैं।
 शुद्धोपयोग से युक्त हो, आत्मा-ज्ञानात्मक ध्याऊँ मैं॥ 159॥
 मैं देह नहीं, वाणी नहीं अरु, मन नहीं, कारण नहीं।
 कर्ता नहीं, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता मैं नहीं॥ 160॥
 देह-मन-वाणी हैं पुद्गल, जिनेन्द्र का निर्देश है।
 अरु ये सब पुद्गलद्रव्य तो, परमाणुओं के पिण्ड हैं॥ 161॥
 मैं नहीं पुद्गलमयी रु, पुद्गलपिण्ड मुझकृत नहीं।
 इस हेतु से मैं देह नहीं, अरु देह का कर्ता नहीं॥ 162॥
 अप्रदेश परमाणु स्वयं, प्रदेशमात्र अशब्द जो।
 अनुभवे स्निग्ध या रूक्ष बनकर, द्विप्रदेशादित्व को॥ 163॥
 परमाणु परिणमनमयी कहा, पाता रूक्ष-स्निग्धता।
 आदि एक से बढ़ते हुए, पावे जबलों अनन्ता॥ 164॥

हों स्निग्ध अथवा रूक्ष अणु-परिणाम सम या विषम हों।

बँधते यदि गुणद्वय अधिक, जघन्य हों नहीं बन्ध हो॥ 165॥

स्निग्ध द्विगुण परमाणु बँधता, चतुर्गुण स्निग्ध से।

अथवा रूक्ष त्रिगुण अणु, पञ्चगुण अणु के सङ्ग बँधे॥ 166॥

द्विप्रदेश आदि स्कन्ध, बादर-सूक्ष्म अरु साकार हैं।

वे पृथ्वी वायु जल तेज होते, स्वयं निज परिणाम से॥ 167॥

इस लोक में है सर्वतः, अवगाह पुद्गलकाय का।

वे सूक्ष्म-बादर स्कन्ध हैं, अरु कर्म योग्य-अयोग्य हैं॥ 168॥

जीवभाव का पाकर निमित्त, कर्मत्व योग्य स्कन्ध जो।

स्वयं परिणमे हैं कर्मरूप, जीव परिणामावे नहीं उन्हें॥ 169॥

कर्मरूप परिणत पुद्गलों के, पिण्ड वे-वे पुनि-पुनि।

बनते शरीर हैं जीव के, जब संक्रमण इस देह की॥ 170॥

ये देह औदारिक अरु वैक्रियक, तैजस देह हैं।

कार्माण आहारक देह सर्व ही, पुद्गलात्मक देह हैं॥ 171॥

जीव चेतनागुण, शब्द रस रूप गन्ध व्यक्तिविहीन है।

निर्दिष्ट नहीं संस्थान उसका, ग्रहण नहीं है लिङ्ग से॥ 172॥

रूपादि गुणयुत मूर्त पुद्गल, बँधें परस्पर स्पर्श से।

कैसे अमूर्तिक आत्मा, इन कर्म-पुद्गल से बँधे?॥ 173॥

आत्मा अरूपी देखता अरु जानता, द्रव्य रूपी को।

त्यों बन्ध भी जानो अरे!, रूपी-अरूपी द्रव्यों का॥ 174॥

उपयोग आत्मक जीव पाकर, विविध विषयों को अरे!

मोह राग अरु द्वेष करता, कर्म से बँधता खरे!॥ 175॥

आगत विषय को देखता जीव जानता जिस भाव से।
 हो रागी तो बँधते हैं कर्म-उसी से, है उपदेश ये॥ 176॥
 स्पर्श से बन्ध पुद्गलों का, राग से जीव का कहा।
 अन्योन्य के अवगाह से, बन्ध उभयात्मक कहा॥ 177॥
 है सप्रदेशी जीव, जीव-प्रदेश में जो प्रविष्ट हैं।
 पुद्गलसमूह रहें यथोचित, जाय हैं, बंधाय हैं॥ 178॥
 जीव रागी बाँधे कर्म को, छूटे वैरागी कर्म से।
 यह आत्मा के बन्ध का, संक्षेप जानो नियम से॥ 179॥
 बन्ध है परिणाम से जो राग-मोह अरु द्वेष है।
 मोह-द्वेष हैं अशुभ, राग अशुभ वा शुभ होय है॥ 180॥
 पर माँहि शुभ-परिणाम पुण्य, अरु अशुभ पर में पाप है।
 पर आत्मरत परिणाम कारण, दुःख-क्षय का जिन कहें॥ 181॥
 थावर अरु त्रस पृथ्वी आदिक, कहे जीव-निकाय हैं।
 वे जीव से हैं अन्य अरु, जीव भी उनसे अन्य है॥ 182॥
 जो स्व-पर को नहीं जानता, यो प्राप्त कर निज भाव को।
 वो मोही 'मैं ये, ये मेरा', यों करता अध्यवसान को॥ 183॥
 निजभाव करता आत्मा, कर्ता स्वयं के भाव का।
 पर है नहीं कर्ता कभी, पुद्गलमयी सब भाव का॥ 184॥
 जीव सर्वकाले पुद्गलों के, मध्य में भी रहे भले।
 पर ग्रहे अरु छोड़े नहीं, नहीं करे पुद्गल कर्म को॥ 185॥
 द्रव्यजनित निज परिणाम को, करता हुआ इस काल में।
 जीव, कर्म रज से ग्रहण होता, अरु कदाचित छूटता॥ 186॥

जीव, राग द्वेष से युक्त जब, शुभ या अशुभ में परिणमे।
 हो कर्मधूलि प्रविष्ट, ज्ञाना-वरण आदि रूप में॥ 187॥
 स-प्रदेशी आत्मा जब, मोह-राग कषाय से।
 सम्बन्ध पाता कर्मरज का, बँध वो ही कहाय है॥ 188॥
 जीव-बन्ध का संक्षेप यह, अर्हन्त ने निश्चय कहा।
 व्यवहार अन्य प्रकार है, जिनवर ने यतियों से कहा॥ 189॥
 जो देह-धन में 'मैं हूँ यह, ये है मेरा' — ममता ग्रहे।
 वह छोड़कर श्रामण्य को, उन्मार्ग का आश्रय करे॥ 190॥
 मैं पर नहीं, नहीं पर मेरा, ज्ञानमात्र मैं तो एक हूँ।
 इस रीति ध्यावूँ ध्यानकाले, तो ही शुद्धात्मा लहूँ॥ 191॥
 यों ज्ञान-दर्शन आत्मक, अतीन्द्रिय महा-पदार्थ मैं।
 ध्रुव, अचल, आलंबनरहित, अरु शुद्ध मानूँ जीव मैं॥ 192॥
 शत्रु-मित्र अरु देह-धन, सुख-दुःख नहीं ध्रुव, जीव के।
 इस जीव को ध्रुव एक ही, उपयोगमयी निज आत्म है॥ 193॥
 यों जानकर शुद्धात्म हो, ध्यावे निज परमात्म को।
 क्षय मोह-ग्रन्थि का करे, साकार या अनाकार हो॥ 194॥
 हत मोहग्रन्थि, क्षय करे, रागादि का श्रामण्य जो।
 मध्यस्थ है सुख-दुःख में वो, पावे अक्षय सौख्य को॥ 195॥
 विषय-विरक्त मन रोक के, जो मोहमल का क्षय करे।
 स्वभाव में दृढ़तासहित, वह ध्यान आत्मा का धरे॥ 196॥
 किस अर्थ को ध्याते श्रमण, घनघाति कर्म विहीन जो?।
 प्रत्यक्ष सर्व पदार्थ अरु, ज्ञेयान्तप्राप्त निशंक जो॥ 197॥

अनिन्द्रिय-इन्द्रियातीत अरु, बाधारहित सकलात्म में।
 सौख्य ज्ञानारूढ़ हो, वे परम सुख को ध्यावते॥ 198॥
 अर्हन्त तीर्थङ्कर श्रमण, जिनमार्ग में आरूढ़ हो।
 जो हुए सिद्ध, है नमन उनको, और मुक्तिमार्ग को॥ 199॥
 इससे यथार्थ में जानकर ज्ञायक स्वभावी आत्म को।
 ममतारहित में ठहरकर मैं छोड़ता हूँ ममत्व को॥ 200॥

(दोहा)

ज्ञेयतत्त्व के बोध से, सत्ता निज की पाऊँ।
 ज्ञेयों में मध्यस्थ हो, निज में ही रम जाऊँ॥

चरणानुयोग-सूचक चूलिका

अब, तृतीय अधिकार चरणानुयोग-सूचक चूलिका अथवा सम्यक्चारित्र अधिकार प्रारम्भ होता है —

इस महाधिकार का नाम चरणानुयोग-सूचक चूलिका है। इसमें चारित्रदशा को अङ्गीकार करनेवाले महामुनियों के अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग आचरण का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम मुनिधर्म अङ्गीकार करने की बाह्य विधि का वर्णन बहुत ही मार्मिकता के साथ किया गया है। आचार्य कहते हैं कि — 'यदि दुःखों से छुटकारा पाने की इच्छा हो तो सिद्धों, अर्हन्तों आदि श्रमणों को प्रणाम करके, श्रामण्य को अङ्गीकार करो।' श्रमणदीक्षा अङ्गीकार करने की सम्पूर्ण विधि इस अधिकार में बतायी गयी है।

ज्ञानस्वरूप आत्मा को पहचानकर, ज्ञेयों से उदासीन होकर, मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हुआ जीव ही चारित्रवन्त है। सम्यग्दर्शन एवं

ज्ञानपूर्वक, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा में रमणता करना ही चारित्र है। अतीन्द्रिय आनन्द का धारावाही अनुभव करने वाले चारित्रवन्त जीव का ही मोक्षरूपी लक्ष्मी वरण करती है। 'इस लोक में मेरा कुछ भी नहीं है'— ऐसा निश्चयवान और जितेन्द्रिय जीव, मोक्षलक्ष्मी के स्वयंवर समान निर्ग्रन्थ दीक्षा के, चारित्रदशा के आनन्दमय प्रसंग में, प्रथम पञ्चपरमेष्ठी को वन्दन कर — उनकी उपस्थिति में मुनिधर्म अंगीकार करता है। अन्दर अकषायस्वरूप स्थिरता है और बाह्य यथाजात सदृश, नग्न दिगम्बरदशा है।

इस महाधिकार में आचार्यभगवान श्रमण को 'आगमचक्खू साहू' कहकर प्रेरणा करते हैं — "हे आत्मन्! आत्मज्ञानसहित आगमज्ञान ही कार्यकारी है; आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान तो निरर्थक है, अकिञ्चित्कर है। जिसमें विश्व के सब पदार्थों का सत्यस्वरूप प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, वही दिव्यध्वनि है, प्रवचन है तथा 'निज आत्मा ही ध्रुव है; दूसरा कोई संयोग ध्रुव नहीं है' — यही प्रवचन का सार है। मुनि के योग्य चर्या से युक्त वर्तता हुआ जो श्रमण, केवल आत्मा को अनुभवता हुआ — इस उपदेश को जानता है, वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सार को अर्थात् परम शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

(दोहा)

उज्ज्वल ज्ञान प्रकाश से, साम्य आचरण पाय।

यथाख्यात चारित्र ये, पञ्चम गति ले जाय॥

इस रीत प्रणमी सिद्ध, जिनवर-वृषभ, मुनि को पुनि-पुनि।

श्रामण्य अंगीकृत करो, अभिलाष जो दुःख-मुक्ति की॥ 201॥

बंधुओं से ले विदा, गुरु-पत्नि-पुत्र से छूटके।
 दृग-ज्ञान-तप-चारित्र, वीर्याचार अंगीकृत करे॥ 202॥
 कुल-रूप-वय से विशिष्ट गणी, अति इष्ट श्रमण गुणाढ्य को।
 कर नमन होता अनुग्रहित, कहता मुमुक्षु 'मुझ ग्रहो'॥ 203॥
 पर का नहीं मैं, पर न मेरा, नहीं मेरा कुछ लोक में।
 इस रीत श्रद्धा कर जितेन्द्रिय, सहजरूप धर परिणमे॥ 204॥
 यथाजात स्वरूप हो, कर केश-लुञ्चन शुद्ध है।
 शृंगार अरु हिंसारहित जो, वह श्रमण का लिङ्ग है॥ 205॥
 आरम्भ मूर्च्छाशून्य हो, उपयोग-योग विशुद्ध हो।
 निरपेक्ष पर से-जिनकथित, मुक्ति का कारण लिङ्ग वो॥ 206॥
 कर परमगुरु से लिङ्ग द्वय का, ग्रहण उनको नमन कर।
 सुनकर व्रतों को आत्म में, होता सुस्थित श्रमण वह॥ 207॥
 व्रत समिति इन्द्रियरोध आवश्यक, लोच भूमि-शयन हो।
 अचेल भोजन एक स्थित, नहीं दन्तधौवन अस्नान हो॥ 208॥
 ये मूलगुण हैं श्रमण के, जिनदेव ने जो हैं कहे।
 उनमें प्रमत्त हैं जो श्रमण, छेदोपस्थापक वे बनें॥ 209॥
 दीक्षा-ग्रहण में जो गुरु, दीक्षा-गुरु वे जानना।
 अरु शेष निर्यापक-गुरु, करें छेद-द्वय उपस्थापना॥ 210॥
 यत्नपूर्वक काय-चेष्टा, में जो कोई दोष हो।
 आलोचनापूर्वक क्रिया, कर्तव्य है उन साधु को॥ 211॥
 छेदोपयुक्त हो श्रमण तो, विधि-कुशल आचार्य से।
 आलोचना कर, करें हैं, जैसा वे उपदेश दें॥ 212॥

प्रतिबन्ध पर का त्यागकर, गुरु-सङ्ग में या असङ्ग में।
 मुनिराज विचरो सर्वदा, निर्दोष हो श्रामण्य में॥ 213॥
 ज्ञान-दर्शन आदि में जो, श्रमण नित्य प्रतिबद्ध हैं।
 जो प्रयत मूलगुणों विषै, परिपूर्ण वे श्रामण्य हैं॥ 214॥
 आहार में उपवास में, आवास, विकथा विहार में।
 परिग्रह में या श्रमण में, प्रतिबन्ध मुनि नहीं चाहते॥ 215॥
 जो अप्रयत चर्या श्रमण की, शयन आसन गमन में।
 रु स्थान में, वो सतत हिंसा, जानना सब काल में॥ 216॥
 जीव जीवे या मरे, हिंसा अयत्नाचार के।
 समिति अरु प्रयतसहित के, ना बन्ध हिंसामात्र से॥ 217॥
 मुनि यत्नहीन आचार में, छह काय का हिंसक कह्यो।
 जल कमलवत् निर्लेप यदि, तो नित्य यत्नाचारी वो॥ 218॥
 काय-चेष्टा से मरें जीव, बन्ध हो या ना भी हो।
 पर बन्ध निश्चित परिग्रह से, तजें श्रमण यों सर्व को॥ 219॥
 निरपेक्ष त्याग न होय तो, नहिं भाव शुद्धि साधु के।
 अरु भाव में अविशुद्ध के, क्षय कर्म का कैसे बने?॥ 220॥
 मूर्छा-असंयम-आरम्भ न हो, उपधि रहे-कैसे बने?
 परद्रव्यरत जो होय तो, आत्मा उसे कैसे सधे?॥ 221॥
 जिसके ग्रहण या त्याग में ना, छेद हो मुनिराज के।
 उस उपधिसह वर्तों भले, मुनि काल-क्षेत्र को जानके॥ 222॥
 अनिन्दित हो रु अप्रार्थनीय, असंयतो से उपधि जो।
 अरु मूर्छारहित, भले अल्प हो, श्रमण उसको ही ग्रहो॥ 223॥

क्यों अन्य परिग्रह होयगा, जब देह को परिग्रह कहा।
 मोक्षार्थी को संस्कार देह का, निषेध जिनवर ने किया॥ 224॥
 यथाजातरूप लिङ्ग, वह है, उपकरण जिनमार्ग में।
 गुरु का वचन, सूत्राध्ययन, अरु विनय भी उपकरण हैं॥ 225॥
 इस लोक में निरपेक्ष अरु, परलोक में अप्रतिबद्ध हैं।
 कषायरहित जो श्रमण हैं, वे युक्ताहार-विहारी हैं॥ 226॥
 जो आत्मा एषणारहित, तप-सिद्धि में उद्यत रहे।
 लें अन्य भिक्षा दोष बिन, वे अनाहारी श्रमण कहे॥ 227॥
 केवल शरीरी श्रमण मानें, देह भी अपना नहीं।
 तपयुक्त हों परिकर्म बिन तन, शक्ति का गोपन नहीं॥ 228॥
 आहार है इक बार दिन में, ऊनोदर यथालब्ध है।
 बिन माँस-मधु, भिक्षाचरण से, और रस निरपेक्ष है॥ 229॥
 बाल हों या वृद्ध हों, अरु श्रान्त-ग्लानदशा विषे।
 हो मूल जिससे नष्ट ना, निज योग्य चर्या आचरें॥ 230॥
 देश-काल-श्रम-क्षमता को, उपधि को भी जानकर।
 वर्ते आहार-विहार में, वो श्रमण लेपी अल्प हैं॥ 231॥
 मुनि प्राप्त हों एकाग्र को, एकाग्र वस्तु-निश्चय से।
 निश्चय आगम-ज्ञान से, आगम प्रवर्तन श्रेष्ठ है॥ 232॥
 जो श्रमण आगमहीन वे, जानें न निज-पर द्रव्य को।
 वे कर्मक्षय कैसे करें?, नहीं जानते जो पदार्थ को॥ 233॥
 मुनिराज आगम चक्षु अरु, सब प्राणी इन्द्रिय-चक्षु हैं।
 हैं देव अवधि-चक्षु अरु, सिद्ध सर्वत्र-चक्षु हैं॥ 234॥

विविध गुण-पर्याय युत, सब अर्थ आगम सिद्ध हैं।
 उन सर्व को जाने श्रमण, देखकर आगम ही से॥ 235॥
 आगम दृष्टि जिसके नहीं, कैसे उसे संयत कहें?।
 वचन है जिनसूत्र का, 'असंयत, मुनि कैसे बनें?॥ 236॥
 श्रद्धान अर्थों का नहीं तो, आगमों से सिद्धि ना।
 श्रद्धान अर्थों का भी हो पर, असंयत को मुक्ति ना॥ 237॥
 जो कर्म अज्ञानी खिपावें, लक्ष-कोटि भवों में।
 उनको खिपावें ज्ञानीजन, त्रिगुप्तिवश उच्छवास में॥ 238॥
 अणुमात्र भी मूर्च्छा यदि, देहादि में जिसके रहे।
 हो सर्व आगमधर भले ही, वो नहीं मुक्ति लहे॥ 239॥
 त्रिगुप्त-पञ्चसमिति अरु, विजित इन्द्रि-कषाय जो।
 परिपूर्ण दर्शन-ज्ञान से, उस श्रमण को संयत कहो॥ 240॥
 निन्दा-प्रशंसा, दुःख-सुख, अरि-बन्धु में जो साम्य हैं।
 लोष्ट-काञ्चन, जीवन-मरण में, साम्य, वो ही श्रमण हैं॥ 241॥
 दृग-ज्ञान अरु चारित्र त्रय में, युगपद् आरूढ़ हैं।
 एकाग्रता उनके कही, वे ही श्रमण परिपूर्ण हैं॥ 242॥
 परद्रव्य आश्रय ग्रहण करके, राग-द्वेष अरु मोह करे।
 अज्ञानी है वह श्रमण भी, विविध कर्मों से बँधे॥ 243॥
 मोह नहीं, नहीं राग अरु, नहीं द्वेष अर्थों से करें।
 तो नियम से मुनिराज वे, विविध कर्मों क्षय करें॥ 244॥
 शुद्धोपयोगी श्रमण है, शुभयुक्त भी शास्त्रों कहा।
 शुद्धोपयोगी है निरास्रव, शेष सास्रव जानना॥ 245॥

वात्सल्य प्रवचनरत विषे, अरु भक्ति अरहंतादि प्रति।
 होय है श्रामण्य में तो, चर्या ये शुभयुक्त कही॥ 246॥
 श्रमणो प्रति वन्दन, नमन, अनुगमन अभ्युत्थान ये।
 अरु श्रम निवारण है न निन्दित, रागयुत चर्या विषे॥ 247॥
 दृग्-ज्ञान का उपदेश, पोषण-ग्रहण शिष्यों का तथा।
 जिनअर्चना-उपदेश, चर्या, रागियों की है कहा॥ 248॥
 जो चतुर्विध मुनिसंघ का भी, नित करें उपकार हैं।
 षट्काय हिंसा से रहित, वे श्रमण राग-प्रधान हैं॥ 249॥
 वैयावृत्ति अर्थ उद्यत, षट्काय जीव विराधते।
 वे श्रमण नहीं, वे हैं गृही, धर्म श्रावक साधते॥ 250॥
 अल्प लेप है तथापि, दृग्-ज्ञान परिणत जैन जो।
 उपकार अनुकम्पा से उनका, उचित, यदि निरपेक्ष हो॥ 251॥
 आक्रान्त देखों श्रमण को, श्रम-रोग-भूख या प्यास से।
 वैयावृत्ति उसकी करो, हे साधु! अपनी शक्ति से॥ 252॥
 सेवा निमित्त से, रोगी-गुरु अरु, वृद्ध-बालक श्रमण की।
 चर्चा लौकिकजनों से, शुभोपयोगयुत निन्दित नहीं॥ 253॥
 ये चर्या शुभ होती श्रमण के, श्रावकों के मुख है।
 श्रावक परमसुख पाते उससे, ऐसा श्रीजिन कथन है॥ 254॥
 ज्यों बीज भूमि-विशेष से, परिकाल में विपरीत फले।
 त्यों राग-शुभ विपरीत फलता, पात्रता के भेद से॥ 255॥
 छद्मस्थ अभिहित दान-ध्यान, व्रत-नियम-पठनादि में।
 जीव लीन, मोक्ष लहें नहीं, बस भाव सातात्मक लहें॥ 256॥

परमार्थ से अनभिज्ञ जो, विषय-कषायों में फँसे।
 उपकार-सेवा-दान उनको, कुदेवमनुजपने फले॥ 257॥
 'विषय-कषाय पाप हैं', जब शास्त्र में ऐसा कहा।
 लीन उनमें पुरुष जो, कैसे जगत्-उद्धारक हुआ?॥ 258॥
 वह पुरुष जान सुमार्गशाली, पाप का उपरम जिसे।
 मध्यस्थ धार्मिक सर्व में, गुणसमूह सेवन है उसे॥ 259॥
 अशुभोगपयोगरहित श्रमण, जो शुद्ध या शुभयुक्त हैं।
 वे तारते हैं लोक को, अरु भक्त उनके शुभ लहैं॥ 260॥
 दिगम्बरत्व को देख पहले, अभ्युत्थान आदि क्रिया करो।
 हे श्रमण! फिर विशेष से, गुणानुसार वर्तन करो॥ 261॥
 गुणाधिक श्रमणों प्रति, सत्कार, अभ्युत्थान अरु।
 अञ्जलिकरण, पोषण, ग्रहण, सेवन, नमन उपदिष्ट है॥ 262॥
 मुनि सूत्र-अर्थ प्रवीण, संयम-ज्ञान-तप समृद्ध हैं।
 श्रमणों से अभ्युत्थान-सेवा, वन्दना के योग्य हैं॥ 263॥
 जिनोक्त आत्मप्रधान यदि, पदार्थ जो श्रद्धे नहीं।
 जिनवर कहें- 'तप-सूत्र-संयमयुक्त भी साधु नहीं'॥ 264॥
 श्रमण देख जिन-शासनस्थ, जो द्वेष से निन्दा करें।
 अनुमत नहीं क्रियाओं में, वो नाश चारित का करें॥ 265॥
 हो गुणों में हीन पर, 'मैं भी श्रमण' यों मद करें।
 चाहें गुणाधिक से विनय, वे दीर्घ संसारी बनें॥ 266॥
 अधिक गुणयुत मुनि यदि, गुणहीन का वन्दन करें।
 तो मोह में उपयुक्त हों, अरु नष्ट चारित्र को करें॥ 267॥

सूत्रार्थ श्रद्धे, कषाय शमने, अरु अधिक तपवान जो।

छोड़े न लौकिक सङ्ग तो, होवे असंयत श्रमण वो॥ 268॥

निर्गन्ध दीक्षित जीव जो, तप व संयम युक्त हैं।

5 रहें लौकिक कर्म में तो, कहें लौकिक ही उन्हें॥ 269॥

अतएव यदि दुःख मुक्ति चाहें, सम गुणों में मुनि रहें।

5 या अधिक गुणवान श्रमणों, सङ्ग में ही नित रहें॥ 270॥

समयस्थ होकर अयथा ही, जो समझते तत्त्व को।

5 अनन्त फलसमृद्ध भावी, काल में वे मुनि भ्रमें॥ 271॥

सत् आचरण, प्रशान्त मुद्रा, सूत्र-अर्थ सुनिश्चयी।

वे पूर्ण साधु कर्मफलबिन, संसार में चिर रहें नहीं॥ 272॥

अन्तर्बाह्य ऊपधिरहित, सम्यक् जाने पदार्थ को।

नहीं विषयों में आसक्त है, कहा शुद्ध उस ही श्रमण को॥ 273॥

रे! शुद्ध ही श्रामण्य है, रु ज्ञान-दर्शन शुद्ध के।

हो शुद्ध के निर्वाण, शुद्ध ही सिद्ध, वन्दन है उन्हें॥ 274॥

साकार या अनाकार चर्यासहित इस उपदेश को।

जो जानता, वह शीघ्र पाता, प्रवचन के सार को॥ 275॥

(दोहा)

आतम निज पहचानकर, सत् चारित्र उर धार।

सर्व कषाएँ मेटकर, हो जाऊँ भव पार॥

(उपसंहार)

ज्ञानानन्दस्वभावी, भगवान आत्मा को, विश्व की व्यवस्था को;
और मोक्षमार्ग को प्रत्यक्ष करता हुआ— यह अद्वितीय आगमचक्षु
श्रीप्रवचनसार पूर्णता को प्राप्त होता है। निज आत्मद्रव्य को, भीतर
में शुद्ध चैतन्यमात्र ही देखने वाले परमपूज्य आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव

कहते हैं — “हे आत्मन्! मोहभावना के कारण जिसकी आत्म-परिणति सदा चक्कर खाती है, उसको आत्मद्रव्य की प्राप्ति दूर ही है; परन्तु जब यही आत्मा, अखण्ड ज्ञान-परिणति को प्रचण्ड करके, आत्मविवेक के कारण, अत्यन्त अन्तर्मुख हुआ, मोहादि परिणति से दूर होता है, तो अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा को प्राप्त करता है। अतः हे भव्य जीवों! अनादिकालीन मोह में मत नाचो! इस लोक में निज परम चैतन्यतत्त्व के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उत्तम नहीं है। अतः हे चेतन! निज चैतन्य को ही उग्रता से अनुभव करके, परमानन्द परिणामरूप परिणत होओ।”

श्री कुन्दकुन्द आचार्य से, पाया प्रवचनसार।
 दिव्यध्वनि को ग्रहण कर, ग्रहो सम्यक् सुखकार॥
 भाव समझ जिनराज का, लहो आत्म अधिकार।
 सफल करो दुर्लभ जनम, जय जय प्रवचनसार॥

(श्रीनियमसार)

महान् ग्रन्थाधिराज श्रीसमयसार एवं दिव्यध्वनि के सार के रूप में प्रतिष्ठित श्रीप्रवचनसार गाथाओं की हिन्दी में सङ्गीतमयी प्रस्तुती के पश्चात्, जिनवाणी माता को प्रत्येक जन के हृदय में विराजित करने के अपने लघु प्रयास के अन्तर्गत पञ्चपरमागमों के हिन्दी पद्यानुवादों की प्रस्तुति की इस शृंखला में अब ग्रन्थाधिराज ‘श्रीनियमसार’ की सङ्गीतमय प्रस्तुति का प्रथम बार लोकार्पण करते हुए, तीर्थधाम मङ्गलायतन परिवार, गौरव का अनुभव कर रहा है। प्रस्तुत प्रस्तुति में वयोवृद्ध जैन विद्वान्, आदरणीय बाबू

जुगलकिशोरजी 'युगल', कोटा द्वारा किये गये हिन्दी पद्यानुवाद को आधार बनाया गया है। हम, आदरणीय बाबूजी के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने पञ्चपरमागम शास्त्रों में श्रीनियमसार की रचना, अपनी 'स्वान्तः सुखाय' भावना को पुष्ट करने हेतु की है।

आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं — "वीतराग सर्वज्ञदेव के मुखारविन्द से निकले, पूर्वापर दोषरहित परम उपदेश को जानकर, मैंने निज भावना निमित्त से यह नियमसार नामक शास्त्र किया है।"

ग्रन्थराज नियमसार के टीकाकार मुनिराज श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव ने इस शास्त्र को परमेश्वरी शास्त्र तथा आचार्य कुन्दकुन्द भगवान् को देहमात्र परिग्रह के धारक पञ्चेन्द्रियजयी निर्ग्रन्थ मुनिराज बताया है। श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं — "यह भागवत् शास्त्र है, जो निर्वाण सुन्दरी से उत्पन्न होने वाले, परम वीतरागात्मक, निराबाध, और अनङ्ग परमानन्द को निरन्तर देनेवाला है। यह शास्त्र निरतिशय, नित्य, शुद्ध, निरञ्जन, निज कारणपरमात्मा की भावना का कारण है।"

जो भव्य आत्माएँ, इस भागवत्शास्त्र को निश्चय-व्यवहार के अविरोध से जानकर — नित्य, शुद्ध, निरञ्जन, अद्वितीय निज कारणपरमात्मा के अवलम्बनपूर्वक स्वस्थ रत्नत्रय में वर्तती हैं, — वे परम वीतरागात्मक, बाधारहित, निरन्तर, अतीन्द्रिय, परमानन्द, शाश्वत सुख को प्राप्त होती हैं।

“निज शुद्धात्मस्वरूप की पहचान बिना, चार गतियों और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते हुए प्राणियों के लिये, अनन्त दुःखों से मुक्ति हेतु — निजात्मा का श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यान ही एकमात्र नियम से करने योग्य कार्य है; अतः परम पारिणामिकभावरूप, निज शुद्धात्म द्रव्य ही एकमात्र आराध्य है, श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है। निज आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान एवं आचरणरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही साधन है, मार्ग है, नियम है, तथा इस मार्ग की परिपूर्णता ही साध्य है, मार्गफल है, निर्वाण है।”

पथदर्शक जिनमार्ग का, नियमसार गुणखान।

परम शुद्ध चारित्र से, पाओ पद निर्वाण॥

नियमसार के अन्तर्गत सम्पूर्ण परमार्थ क्रियाओं का, पुष्कल निरूपण करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं — “निर्मल निज परमात्मा की भावना करना, आत्मा का अनुभव करना, सहज वैराग्य भावना में परिणत होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होना ही निश्चय से नियम है, वही चारित्र है। निश्चय-चारित्र के बिना केवल बाह्यचारित्र असार है, निस्सार है।”

निज स्वरूप शक्ति जगे, ग्रहो नियम का सार।

कुन्दकुन्द श्री चरण में, वन्दन बारम्बार॥

नियमसार के अन्तर्गत सम्पूर्ण परमार्थ क्रियाओं का, पुष्कल निरूपण करते हुए आचार्य भगवान कहते हैं — “निर्मल निज परमात्मा की भावना करना, आत्मा का अनुभव करना, सहज वैराग्य भावना में परिणत होकर आत्मस्वरूप में स्थिर होना ही निश्चय से नियम है,

वही चारित्र है। निश्चय-चारित्र के बिना, केवल बाह्य चारित्र असार है, निस्सार है।”

जीव अधिकार

सर्वप्रथम, 19 गाथाओं तक जीव अधिकार प्रस्तुत किया जाता है —

निज चैतन्य भगवान से अनभिज्ञ, परद्रव्यों एवं परभावों में अनुरक्त मोही जीव, अनादिकाल से चारों गतियों में परिभ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठा रहे हैं। सर्व कर्मों से विमुक्त, एक, शुद्ध आत्मा का सतत् अनुभव करने वाले आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव, जिनेन्द्रकथित मार्ग एवं मार्गफल का स्वरूप बताते हुए, कहते हैं — “हे भव्य! नर-नारकादि जड़ पर्यायों से, प्रशस्त-अप्रशस्त राग से, व ज्ञानादि भेदों से भिन्न, शुद्ध चैतन्यमय आत्मा की भावना ही नियम है अर्थात् दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। जिनेन्द्रकथित जीव के समस्त भेदों को जानकर जो पुरुष, परभावों का परिहार करके, शरीरादि के प्रति ममत्वभाव का त्याग करके, निज स्वरूप में रहते हुए, चैतन्य-चमत्कारमात्र निज जीवतत्त्व में गहरा उतर जाता है, वह पुरुष परिपूर्ण मोक्षसुख को प्राप्त करता है; अतः हे आत्मन्! परम ब्रह्मस्वरूप निज शुद्धजीव को सकल अर्थ की सिद्धि के लिये तुम शीघ्र भजो।”

(दोहा)

जिनवर सम शुद्धात्म है, शाश्वत महिमावन्त।

निज आत्म पहचानकर, पाओ सुख अनन्त॥

नमकर अनन्तोत्कृष्ट दर्शन, ज्ञानमय जिन ‘वीर’ को।

कहुँ ‘नियमसार’ सु केवली, श्रुतकेवली परिकथित को॥ 1॥

है मार्ग का अरु मार्ग-फल का, कथन जिन-शासन विषे।
 है मार्ग मोक्ष-उपाय अरु, निर्वाण उसका फल कहें॥ 2॥
 जो नियम से कर्तव्य, दर्शन-ज्ञान-व्रत यह नियम है।
 यह सार पद विपरीत के, परिहार हित परिकथित है॥ 3॥
 है नियम मोक्ष-उपाय उसका, फल परम निर्वाण है।
 इन तीन का ही भेदपूर्वक, भिन्न-भिन्न विधान है॥ 4॥
 रे! आप्त-आगम-तत्त्व का, श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
 निःशेष दोष-विहीन जो, गुणसकलमय सो आप्त है॥ 5॥
 उद्वेग, विस्मय, स्वेद, यम; रति, मोह, चिन्ता, मद, जरा।
 भय, रोष, राग, रु जन्म, निद्रा, रोग, खेद, क्षुधा, तृषा॥ 6॥
 सब दोषरहित अनन्तज्ञान, दृगादि परम विभवमयी।
 परमात्म है वह किन्तु, तद्-विपरीत परमात्मा नहीं॥ 7॥
 परमात्म-वाणी शुद्ध पूर्वापररहित निर्दोष है।
 आगम वही, देती वही, तत्त्वार्थ का उपदेश है॥ 8॥
 षट् द्रव्य पुद्गल, जीव, धर्म, अधर्म, कालाकाश हैं।
 ये विविध गुण-पर्याय से, संयुक्त षट् तत्त्वार्थ हैं॥ 9॥
 उपयोगमय है जीव, वह उपयोग दर्शन-ज्ञान है।
 ज्ञानोपयोग स्वभाव और, विभाव द्विविध विधान है॥ 10॥
 इन्द्रियरहित असहाय केवल, वह स्वाभाविक ज्ञान है।
 दो विध वैभाविक-ज्ञान, सम्यक् और मिथ्याज्ञान है॥ 11॥
 मति श्रुत अवधि अरु मनःपर्याय, चार सम्यग्ज्ञान हैं।
 अरु कुमति कुश्रुत कु-अवधि ये, तीन मिथ्याज्ञान हैं॥ 12॥

दर्शनोपयोग स्वभाव अरु, विभाव दो विध जानिए।
 इन्द्रियरहित असहाय केवल, दृग्-स्वाभाविक मानिए॥ 13॥
 चक्षु, अचक्षु, अवधिदर्शन, ये वैभाविक दर्श हैं।
 निरपेक्ष अरु स्वपरापेक्ष—ये, पर्याय द्विविध विकल्प हैं॥ 14॥
 तिर्यञ्च नारक, देव नर, पर्याय हैं वैभाविकी।
 पर्याय कर्मोपाधि-वर्जित, कही हैं स्वाभाविकी॥ 15॥
 हैं कर्म-भूमिज भोग-भूमिज, मनुज की दो जातियाँ।
 अरु सप्त पृथ्वी-भेद से हैं, सप्त नारक राशियाँ॥ 16॥
 तिर्यञ्च चौदह भेदवाले, देव चार प्रकार के।
 इन सर्व का विस्तार है, ज्ञातव्य लोक-विभाग से॥ 17॥
 है जीव कर्ता-भोक्ता, जड़कर्म का व्यवहार से।
 पर कर्मजन्य विभाव का, कर्ता नियत-नयद्वार से॥ 18॥
 है उक्त पर्यायशून्य आत्मा, द्रव्य-दृष्टि से सदा।
 है उन्हीं पर्यायों सहित, पर्याय-नय से वह कहा॥ 19॥

(दोहा)

शुद्ध जीव अधिकार से, महिमा निज की जान।

सकल विभाव विनष्ट कर, पाऊँ सौख्य महान॥

अजीव अधिकार

अब, गाथा 20 से 37 तक कुल 18 गाथाओं में अजीव अधिकार, विस्तार को प्राप्त होता है —

शुद्ध ज्ञानस्वभावी निर्मल आत्मस्वरूप से अनजान, शुद्धजीव एवं देहादि अजीव को एक मानने वाले अज्ञानी जीव, पाँच इन्द्रियों

के विषयों में प्रवृत्ति करते हुए, देहरूप या अजीवरूप ही स्वयं का अनुभव करते हैं। अजीव की क्रिया जीव से, एवं जीव की क्रिया अजीव से होती है — ऐसी मान्यता के कारण संसार में परिभ्रमण करते हैं। अजीव से सर्वथा भिन्न निज शुद्ध जीवतत्त्व में ही मग्न, आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव करुणा करके समझाते हैं — “हे भव्य आत्मा! जगत के पदार्थ आत्मा से त्रिकाल भिन्न हैं, जीव व पुद्गल भी परस्पर भिन्न हैं। जब जड़स्वरूप पुद्गल भी अपने निजस्वरूप से च्युत होकर, जीवरूप नहीं होते, तो फिर तुम रूपीविषयों का ग्रहण कैसे कर सकते हो? हे भव्य! जिनपति के मार्ग द्वारा तत्त्वार्थ समूह का स्वरूप जानकर, निज आत्मा के अलावा समस्त चेतन-अचेतन द्रव्यों के प्रति मोह त्यागो! हे आत्मन्! विविध प्रकार के अचेतन पुद्गलादि में रति छोड़कर, चैतन्य-चमत्कारमात्र निज आत्मा में अतुल रति करने वाले पुरुष के हृदयकमल में — शुद्ध आत्मा तुरन्त प्रकाशित होता है।”

यद्यपि इस अध्याय की सामान्य विषयवस्तु तो छह द्रव्यों का विवेचन है, तथापि इस अध्याय में कारणपरमाणु, कार्यपरमाणु, स्वभाव-गतिक्रिया, विभाव-गतिक्रिया, समय, प्रदेश, काय, आदि का विशेष वर्णन है। अतः टीकाकार आचार्य कहते हैं — “जिनमार्गरूपी सागर में से पूर्वाचार्यों ने प्रीतिपूर्वक षट्द्रव्यरूपी रत्नों की माला भव्यजीवों के गले में धारण करने हेतु बाहर निकाली है।”

(दोहा)

जड़ अजीव से भिन्न हूँ, पुनि-पुनि करो विचार।

ममता जड़ की त्याग कर, ध्यावो ज्ञान अगार॥

परमाणु एवं स्कन्ध हैं, दो भेद पुद्गलद्रव्य के।
 हैं स्कन्ध छह विध और विविध, विकल्प हैं परमाणु के॥ 20॥
 अतिस्थूल स्थूल रु स्थूल-सूक्ष्म, सूक्ष्म-स्थूल रु सूक्ष्म ये।
 अतिसूक्ष्म, यों छह भेद पृथ्वी आदि पुद्गल-स्कन्ध के॥ 21॥
 भू, भूमिधर इत्यादि ये, अतिस्थूल-स्कन्ध प्रमानिए।
 घृत, तैल, जल इत्यादि को, स्थूल-स्कन्ध सु जानिए॥ 22॥
 आतप, छाया स्थूलसूक्ष्म, स्कन्ध निश्चय कीजिये।
 अरु सूक्ष्मस्थूल-स्कन्ध चारों, अक्ष से गहि लीजिये॥ 23॥
 कार्माणवर्गणा योग्य पञ्चम, स्कन्ध सूक्ष्म-स्कन्ध है।
 विपरीत, जो इस योग्य नहीं, अतिसूक्ष्म पुद्गल-स्कन्ध है॥ 24॥
 जो हेतु धातु-चतुष्क का, 'कारण-अणु' विख्यात है।
 अरु स्कन्ध के अवसान में, 'कार्याणु' होता प्राप्त है॥ 25॥
 जो आदि में भी आप है, मध्यान्त में भी आप ही।
 अविभागी इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं, 'परमाणु' सत् जानो वही॥ 26॥
 दो स्पर्श, एक रस-गन्ध-वर्ण, स्वभावगुणमय है वही।
 सर्वाक्षगम्य विभावगुणमय, को प्रगट जिनवर कही॥ 27॥
 पर्याय पर-निरपेक्ष जो, उसको स्वाभाविक जानिए।
 जो स्कन्ध-परिणति है उसे, वैभाविकी पहचानिए॥ 28॥
 'परमाणु पुद्गलद्रव्य है', यह कथन निश्चयनय करे।
 व्यवहारनय की रीति है, वह स्कन्ध को पुद्गल कहे॥ 29॥
 जो जीव-पुद्गल गमन-स्थिति, में हेतु धर्म-अधर्म है।
 आकाश जो सब द्रव्य का, अवकाश हेतुक द्रव्य है॥ 30॥

समय, आवलि भेद दो, या भूतादि त्रयविध जानिए।
 संस्थान से संख्यातगुण, आवलि अतीत प्रमानिए॥ 31॥
 रे! जीव-पुद्गल से समय, संख्या अनन्तगुणा कही।
 कालाणु लोकाकाश स्थित जो, काल निश्चय है वही॥ 32॥
 रे! जीव-पुद्गल आदि का परिणमन-कारण काल है।
 धर्मादि चार स्वभावगुण, पर्यायवन्त त्रिकाल हैं॥ 33॥
 बिन काल ये जिनधर्म वर्णित, पाँच अस्तिकाय हैं।
 अरु वस्तु का बहु प्रदेशीपन, नियम से यह काय है॥ 34॥
 होते अनन्त, असंख्य, संख्य प्रदेश मूर्तिकद्रव्य के।
 अरु हैं असंख्य प्रदेश आत्मा, और धर्म-अधर्म के॥ 35॥
 अनसंख्य लोकाकाश के हैं, अरु अनन्त अलोक के।
 नहीं काल को कायत्व है, वह इक प्रदेशी द्रव्य है॥ 36॥
 है मूर्त पुद्गल शेष पाँचों, ही अमूर्तिक द्रव्य हैं।
 है जीव चेतन, शेष पाँचों चेतनागुण शून्य हैं॥ 37॥

(दोहा)

निज चेतन सुखमय सदा, भिन्न मूर्त से जान।

अनन्त भव को मेटकर, पाऊँ मुक्ति महान॥

शुद्धभाव अधिकार

अब, गाथा 38 से 55 तक वर्णित शुद्धभाव अधिकार प्रस्तुत किया जाता है —

चैतन्य अमृत से भरपूर, अतीन्द्रिय सुख के पिण्डरूप आत्मा में रुचि न करके, अज्ञानी जीव, दुष्कृतरूप संसार के सुख की वाञ्छा

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करते हुए, मात्र आकुलता का ही निरन्तर वेदन करते हैं। अनादि-अनन्त शुद्ध-सहज-परमपारिणामिकभाव जिसका स्वभाव है, — ऐसा सहज शुद्धआत्मा ही मात्र जिन्हें उपादेय है — ऐसे भावलिङ्गी आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं — “हे भव्य! तू अपने आत्मस्वरूप का — शुद्ध अन्तःतत्त्व का, विचार तो कर। चैतन्यमात्र आत्मा के देह, संस्थान, कर्म-नोकर्मादि, जन्म-मरण-रोगादि, जीवस्थान-गुणस्थान आदि सब व्यवहार से कहे जाते हैं; क्योंकि चित्शक्ति से शून्य ये सर्व भाव पौद्गलिक हैं। हे भव्य! जो जिनेन्द्र भगवान का शुद्धस्वरूप है, वही प्रत्येक आत्मा का स्वरूप है। जैसे सिद्ध आत्मा जन्म-जरा-मरण से रहित और आठ गुणों से अलंकृत है, वैसे ही भवलीन संसारी जीव है। अतः तू द्रव्य स्वभाव से तो परमात्मा है ही, मात्र पर्याय में परमात्मा बनना शेष है। मैं अखण्ड ज्ञान हूँ, सर्वतत्त्वों में एक सार हूँ, सहज गुणमणि की खान हूँ — ऐसी सच्ची भावना जिसे निरन्तर वर्तती है, वह आत्मा, चित्शक्तिरहित सर्व पौद्गलिकभावों को मूल से छोड़कर, अशरीरी-अविनाशी-अतीन्द्रिय-निर्मल-निर्ग्रन्थ-निर्दोष-निर्मम आत्मा को आत्मा में ही साक्षात् अनुभव करता है अर्थात् शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-चारित्र में निपुण वह भव्य आत्मा, भवजनित दुःखों से दूर, सिद्धपद को प्राप्त करता है।”

(दोहा)

सर्व उपाधि से रहित, शुद्धभाव निज सार।

शुद्ध ज्ञान चारित्र से, मेटो भव असार॥

हैं हेय सब बहिर्तत्त्व ये, जीवादि आत्मा ग्राह्य है।

अरु कर्म से उत्पन्न, गुण-पर्याय से वह बाह्य है॥ 38॥

(96)

मानापमान स्वभाव के नहीं, स्थान होते जीव के।
 होते न हर्षस्थान भी, नहीं स्थान और अहर्ष के॥ 39॥
 नहीं प्रकृति, प्रदेशस्थान नहीं, और स्थिति-बन्धस्थान नहीं।
 नहीं जीव के अनुभागस्थान, तथा उदय के स्थान नहीं॥ 40॥
 नहीं स्थान क्षायिकभाव के, क्षायोपशमिक तथा नहीं।
 नहीं स्थान उपशमभाव के, होते उदय के स्थान नहीं॥ 41॥
 चतुर्गति भ्रमण नहीं, न जन्म-मृत्यु, रोग-शोक-जरा नहीं।
 कुल योनि नहीं, नहीं जीवस्थान, रु मार्गणा के स्थान नहीं॥ 42॥
 निर्दण्ड अरु निर्द्वन्द्व निर्मम, निःशरीर निराग है।
 निर्मूढ-निर्भय-निरावलम्बन, आत्मा निर्दोष है॥ 43॥
 निर्ग्रन्थ है, नीराग है, निःशल्य जीव अमान है।
 सब दोषरहित अक्रोध निर्मद, जीव यह निष्काम है॥ 44॥
 नहीं स्पर्श-रस-अरु गंध-वर्ण न, क्लीब, नर-नारी नहीं।
 संस्थान संहनन सर्व ही, ये भाव सब जीव के नहीं॥ 45॥
 रस, रूप, गंध न, व्यक्त नहीं, नहीं शब्द, चेतनगुणमयी।
 निर्दिष्ट नहीं संस्थान होता, जीव लिंग-ग्रहण नहीं॥ 46॥
 हैं सिद्ध जैसे जीव, त्यों भवलीन संसारी वही।
 गुण आठ से जो हैं अलंकृत, जन्म-मरण-जरा नहीं॥ 47॥
 बिन-देह अविनाशी अतीन्द्रिय, शुद्ध निर्मल सिद्ध ज्यों।
 लोकाग्र में जैसे विराजे, जीव हैं भवलीन त्यों॥ 48॥
 व्यवहारनय से हैं कहे, सब जीव के ही भाव ये।
 हैं शुद्धनय से जीव सब, भवलीन सिद्ध स्वभाव से॥ 49॥

परद्रव्य हैं परभाव हैं, पूर्वोक्त सारे भाव ही।
 अतएव ये सब त्याज्य, अन्तस्तत्त्व है आदेय ही॥50॥
 मिथ्याभिप्राय विहीन जो, श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
 संशय विमोह विभ्रान्ति विरहित, ज्ञान सुज्ञानत्व है॥51॥
 चल, मल, अगाढ़पने रहित, श्रद्धान वह सम्यक्त्व है।
 आदेय, हेय पदार्थ का, अवबोध सुज्ञानत्व है॥52॥
 जिनसूत्र समकित हेतु हैं, अरु सूत्र-ज्ञाता पुरुष जो।
 उन जान अन्तर्हेतु जिनके, दर्श-मोह क्षयादि हो॥53॥
 सम्यक्त्व सम्यग्ज्ञान अरु, चारित्र मोक्ष-उपाय है।
 व्यवहार-निश्चय से अतः, चारित्र मम प्रतिपाद्य है॥54॥
 व्यवहारनय चारित्र में, व्यवहारनय तप जानिये।
 निश्चय विषे चारित्र में, निश्चय तपादिक मानिये॥55॥

(दोहा)

चतुर्गति में भ्रमण का, कारण मिथ्याभावं।
 सम्यक् भेद-विज्ञान कर, ध्याऊँ शुद्ध स्वभाव॥

व्यवहारचारित्र अधिकार

अब, गाथा 56 से 76 तक व्यवहारचारित्र अधिकार प्रस्तुत है —
 अनादिकाल से जन्म-मरण के दुःखों से संतप्त अज्ञानी जीव,
 दुःखों से छूटने हेतु, पुण्यकर्म एवं पुण्यभावों को ही धर्म मानकर,
 निरन्तर दुःखी ही हो रहे हैं। पञ्चाचारों से परिपूर्ण, चतुर्विध आराधना
 में सदा अनुरक्त, धीर और गुणगम्भीर श्रीकुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं —
 “हे भव्य! परमस्वभावरूप निज परमात्मा में अविचल स्थितिरूप

निश्चयचारित्र होने पर ही व्यवहारचारित्र होता है। अहिंसादि पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, पञ्चपरमेष्ठी की भक्ति, दया-दान-पूजा आदि के विकल्प, धर्म नहीं हैं; शुभराग हैं, बन्ध के कारण हैं। शरीर-मन-वाणी से भिन्न, पुण्यभावों से भी रहित — शुद्ध-चैतन्य-आनन्दकन्द आत्मा के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप निश्चय रत्नत्रय के बिना, सब व्रतादि निरर्थक हैं। अतः हे भव्य! निश्चय-व्यवहारचारित्र का स्वरूप जानकर — निज शुद्ध आत्मा में अविचल स्थिति करो! तुम्हारा अविनाशी कल्याण होगा।”

(दोहा)

व्यवहार से चारित्र जो, हेय जानि मुनिराज।

निश्चय चारित्र उर धरें, नाश करें संसार॥

रे! जानकर कुल योनि, जीवस्थान मार्गण जीव के।

आरम्भ से उनके विरत हो, प्रथम व्रत कहते उसे॥ 56॥

जो राग, द्वेष रु मोह से, परिणाम हो मृष-भाष का।

छोड़े उसे जो साधु, होता है उसे व्रत दूसरा॥ 57॥

कानन, नगर या ग्राम में, जो देख परवस्तु उसे।

छोड़े, ग्रहण के भाव, होता तीसरा व्रत है उसे॥ 58॥

जो देख रमणी रूप, वाञ्छाभाव उसमें छोड़ता।

परिणाम मैथुनसंज्ञ-वर्जित, व्रत चतुर्थ यही कहा॥ 59॥

निरपेक्षभावना युक्त सब ही, ग्रन्थ के परित्याग को।

चारित्र को धारण करे, व्रत पाँचवाँ है उसी को॥ 60॥

मुनिराज प्रासुक मार्ग दिन में, देख आगे की मही।

चार हाथ प्रमाण चलते, समिति ईर्या है कही॥ 61॥

(99)

पैशून्य, कर्कश, हास्य, परनिन्दा, प्रशंसा आत्म की।

छोड़ें, कहें हितकर वचन, उनके समिति है वचन की॥62॥

आहार प्रासुक शुद्ध लें, पर-दत्त कृत कारित बिना।

करते नहीं अनुमोदना मुनि, समिति जिनके एषणा॥63॥

पुस्तक-कमण्डलु आदि, निक्षेपण ग्रहण करते यती।

होता प्रयत परिणाम वह, आदान-निक्षेपण समिति॥64॥

जो गूढ़ प्रासुक और पर-उपरोध बिन भू पर यती।

मल त्याग करते हैं उन्हें, समिति प्रतिष्ठापन कही॥65॥

कालुष्य, संज्ञा, मोह, राग-द्वेष के परिहार से।

होती मनोगुप्ति श्रमण को, कथन नय, व्यवहार से॥66॥

जो पाप-कारण चोर, भोजन, राज, दारा की कथा।

एवं मृषा-परिहार यह, लक्षण वचन की गुप्ति का॥67॥

मारन, प्रसारण, बन्ध, छेदन और आकुञ्चन सभी।

करते सदा परिहार मुनिजन, गुप्ति पालें काय की॥68॥

हो राग की निवृत्ति मन से, नियत मनगुप्ति वही।

होवे असत्य-निवृत्ति अथवा, मौन वचगुप्ति कही॥69॥

कायिक क्रिया-निवृत्ति, कायोत्सर्ग तन की गुप्ति है।

हिंसादि से निवृत्ति भी, होती नियत तनगुप्ति है॥70॥

चौंतीस अतिशययुक्त, अरु घन घातिकर्म विमुक्त हैं।

अर्हन्त श्री कैवल्यज्ञानादिक, परमगुण युक्त हैं॥71॥

हैं अष्ट गुणसंयुक्त, आठों कर्म-बन्ध विनष्ट हैं।

लोकाग्र में जो हैं प्रतिष्ठित, परम शाश्वत सिद्ध हैं॥72॥

पञ्चेन्द्रि-गज के दर्प-उन्मूलक, निपुण आचार्य हैं॥ 73॥

जो रत्नत्रय से युक्त, निकाञ्चित्व से भरपूर हैं।

उवझाय वे जिनवर-कथित, तत्त्वोपदेष्टा शूर हैं॥ 74॥

निर्ग्रन्थ हैं निर्मोह हैं, व्यापार से प्रविमुक्त हैं।

हैं साधु, चउ आराधना में, जो सदा अनुरक्त हैं॥ 75॥

इस भावना में जानिए, चारित्र नय व्यवहार से।

निश्चय-चरण अब मैं कहूँ, निश्चयनयात्मक द्वार से॥ 76॥

(दोहा)

परमशुद्ध चारित्र को, भविजन उर में धार।

तजकर सब व्यवहार को, हो जा भव से पार॥

परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार

अब, गाथा 77 से 94 तक परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार प्रस्तुत है —

भवसागर में डूबे हुए जीवों ने भव-भव में भव की कारणभूत भावनाओं को ही निरन्तर भाया है। अतः आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं — “हे आत्मन्! भव के अभाव के लिए अब तो सहज चैतन्य के विलास स्वरूप शुद्ध आत्मा का ध्यान करो। शुद्ध जीव को मनुष्यादि पर्याय नहीं हैं, बाल-युवा-वृद्ध आदि अवस्थाएँ नहीं हैं, मार्गणास्थान- गुणस्थान-जीवस्थान नहीं है, मोह-राग-द्वेष-क्रोधादि विकार नहीं है। इन समस्त विभावपर्यायों का, शुद्ध आत्मा निश्चय से कर्ता नहीं है, करवाता नहीं है, अनुमोदक भी नहीं है — ऐसा भेदाभ्यास होते ही जीव मध्यस्थ होता है, उसके चारित्र होता है

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
अर्थात् सहज चेतन्य के विलासस्वरूप आत्मा को भाता है, निज परमात्मा में स्थिरतारूप परमार्थप्रतिक्रमण को प्राप्त वह आत्मा, पाप-कलङ्क को धोकर शोभायमान होता है।”

(दोहा)

परमारथ प्रतिक्रमण की, शुद्ध भावना भाय।

निज स्वरूप में लीन जो, मुक्तिकन्त कहलाय॥

नारक नहीं, तिर्यञ्च-मानव-देव पर्यय मैं नहीं।

कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता मैं नहीं॥ 77॥

मैं मार्गणा के स्थान नहीं, गुणस्थान-जीवस्थान नहीं।

कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता भी नहीं॥ 78॥

बालक नहीं मैं, वृद्ध नहीं, नहीं युवक तिन कारण नहीं।

कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता भी नहीं॥ 79॥

मैं राग नहीं, मैं द्वेष नहीं, नहीं मोह तिन कारण नहीं।

कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमन्ता मैं नहीं॥ 80॥

मैं क्रोध नहीं, मैं मान नहीं, माया नहीं, मैं लोभ नहीं।

कर्ता न, कारयिता नहीं, कर्तानुमोदक मैं नहीं॥ 81॥

— इस भेद के अभ्यास से, माध्यस्थ्य हो चारित लहे।

चारित्र दृढ़ता हेतु हम, प्रतिक्रमण आदिक अब कहें॥ 82॥

रे! वचन-रचना छोड़, राग-द्वेष का परित्याग कर।

ध्याता निजात्मा जीव जो, होता उसी को प्रतिक्रमण॥ 83॥

छोड़े समस्त विराधना, आराधना-रत जो रहे।

प्रतिक्रमणमयता हेतु से, प्रतिक्रमण उसको ही कहें॥ 84॥

(102)

जो जीव त्याग अनाचरण, आचार में स्थिरता करे।
 प्रतिक्रमणमयता हेतु से, प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥85॥
 उन्मार्ग का कर परित्यजन, जिनमार्ग में स्थिरता करे।
 प्रतिक्रमणमयता हेतु से, प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥86॥
 कर शल्य का परित्याग मुनि, निःशल्य जो वर्तन करे।
 प्रतिक्रमणमयता हेतु से, प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥87॥
 जो साधु छोड़ अगुप्ति को, त्रय-गुप्ति में विचरण करे।
 प्रतिक्रमणमयता हेतु से, प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥88॥
 जो आर्त-रौद्र विहीन वर्ते, धर्म-शुक्ल सुध्यान में।
 प्रतिक्रमण कहते हैं उसे, जिनदेव के आख्यान में॥89॥
 मिथ्यात्व आदिक भाव की, कर जीव ने चिर भावना।
 सम्यक्त्व आदिक भाव की, पर की कभी न प्रभावना॥90॥
 जो जीव त्यागे सर्व, मिथ्यादर्श-ज्ञान-चरित्र रे!।
 सम्यक्त्व-ज्ञान-चरित्र भावे, प्रतिक्रमण कहते हैं उसे॥91॥
 है जीव उत्तम अर्थ, मुनि तत्रस्थ हन्ता कर्म का।
 अतएव है बस ध्यान ही, प्रतिक्रमण उत्तम अर्थ का॥92॥
 रे! साधु करता ध्यान में, सब दोष का परिहार है।
 अतएव ही सर्वातिचार, प्रतिक्रमण यह ध्यान है॥93॥
 प्रतिक्रमण नामक सूत्र में, प्रतिक्रमण वर्णित है यथा।
 होता उसे प्रतिक्रमण जो, जानकर भावे तथा॥94॥

(दोहा)

शुद्धातम की भावना, प्रतिक्रमण परमार्थ।
 निज स्वभाव को साधकर, पाऊँ निश्चय अर्थ॥

निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार

अब, गाथा 95 से 106 तक निश्चयप्रत्याख्यान अधिकार प्रस्तुत हैं —

इस आत्मा ने अनादिकाल से स्वरूप से बाहर ही भ्रमण किया है। परद्रव्य-गुण-पर्यायों की ममता में स्थित जीवों को प्रत्याख्यान नहीं होता। शुद्धात्मा में अनुरक्त आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं — “हे भव्य! हेय-उपादेय का स्वरूप जानकर, अन्तर्मुख परिणमन से परमकला के आधाररूप चैतन्य चिन्तामणि अनन्तचतुष्टयात्मक निज आत्मा का ध्यान करो! — यह ध्यान ही निश्चय प्रत्याख्यान है। जिनकी बुद्धि निर्मल निज चेतनस्वरूप में एकाग्र है — ऐसे चारित्रमूर्ति को सतत् प्रत्याख्यान है। निजरस के विस्तार से यह जीव परमात्मपद को प्राप्त करता है।”

निश्चय प्रत्याख्यान अधिकार की गाथा 102 में आचार्यदेव कहते हैं — “ज्ञान-दर्शन लक्षणवाला शाश्वत एक आत्मा, मेरा है; शेष सब संयोग लक्षणवाले भाव, मुझसे बाह्य हैं।”

(दोहा)

कर्म शुभाशुभ त्यागकर, निज आत्म का ध्यान।

उत्तम मङ्गलकार है, निश्चय प्रत्याख्यान॥

भावी शुभाशुभ छोड़ कर, तज कर वचन विस्तार रे॥

जो जीव ध्याता आत्म, प्रत्याख्यान होता है उसे॥ 95॥

कैवल्य दर्शन-ज्ञान-सुख, कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।

‘मैं हूँ वही’, यह चिन्तवन, होता निरन्तर ज्ञानी को॥ 96॥

निजभाव को छोड़े नहीं, किञ्चित् ग्रहे परभाव नहीं।
 देखे व जाने 'मैं वही', ज्ञानी करे चिन्तन यही॥ 97॥
 जो प्रकृति-स्थिति-अनुभाग और, प्रदेश बंधबिन आत्मा।
 'मैं हूँ वही', यों भावता, ज्ञानी करे स्थिरता वहाँ॥ 98॥
 मैं त्याग ममता, निर्ममत्व स्वरूप में स्थिति कर रहा।
 अवलम्ब मेरा आतमा, अवशेष वारण कर रहा॥ 99॥
 मम ज्ञान में है आतमा, दर्शन-चरित में आतमा।
 है और प्रत्याख्यान, संवर-योग में भी आतमा॥ 100॥
 मरता अकेला जीव एवं, जन्म एकाकी करे।
 पाता अकेला ही मरण, अरु मुक्ति एकाकी करे॥ 101॥
 दृग्-ज्ञान लक्षण और शाश्वत, मात्र आत्मा मम अरे!।
 अरु शेष सब संयोग लक्षित, भाव मुझसे हैं परे॥ 102॥
 जो कोई भी दुष्चरित मेरा, सर्व त्रयविधि से तजूँ।
 अरु त्रिविध सामायिक चरित सब, निर्विकल्पक आचरूँ॥ 103॥
 समता मुझे सब जीव के प्रति, वैर किसी से नहीं रहा।
 मैं छोड़ आशा सर्वतः, धारण समाधि कर रहा॥ 104॥
 जो शूर एवं संयमी, अकणाय उद्यमवान है।
 भव-भीरु है, होता उसे ही, सुखद प्रत्याख्यान है॥ 105॥
 यों जीव-कर्म विभेद अभ्यासी रहे जो नित्य ही।
 वह संयमी जीव नियत, प्रत्याख्यान-धारण क्षम वही॥ 106॥

(दोहा)

सहज ज्ञान-दर्शनमयी, चिन्मय आतम जाना।
 निश्चय प्रत्याख्यान से, पाऊँ मुक्ति महान॥

परमआलोचना अधिकार

अब, गाथा 107 से 112 तक परमआलोचना अधिकार प्रस्तुत है —

ज्ञानस्वरूप आत्मा से सर्वथा भिन्न, द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म में एकत्वपूर्वक वर्तते हुए संसारियों को आकुलतारूपी दुःख तो स्वाभाविक ही है, उन घोर दुःखों से छूटने की प्रेरणा करते हुए आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव कहते हैं — “हे आत्मन्! प्रत्येक आत्मा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म से भिन्न, पवित्रता का पिण्ड, स्वयं भगवानस्वरूप है। पुद्गलकर्म के विपाक से हुए सर्वभावों की आलोचना करके जो आत्मा, चैतन्यस्वरूप आत्मा को — आत्मा द्वारा — आत्मा के लिये — आत्मा में से — आत्मा में अविचलरूप से देखता है, परम आलोचना को प्राप्त वह भव्य आत्मा, सकल कर्मों को नष्ट करके, सहज विलास स्वरूप ज्ञानलक्ष्मी को प्राप्त करता है।”

इस परम आलोचना नामक अधिकार में, मात्र छह गाथाएँ हैं, जिनमें परम अर्थात् निश्चय आलोचना का स्वरूप बताया गया है।

(दोहा)

सकल कर्मविहीन हो, ध्यावे कारण-ज्ञान।

निश्चय आलोचन करे, प्रगटे केवलज्ञान॥

नोकर्म कर्म विभावगुण-पर्याय विरहित आत्मा।

ध्याता उसे, उस श्रमण को, होती परम-आलोचना॥ 107॥

आलोचना, अविकृतिकरण, अरु शुद्धता, आलुंछना।
 है शास्त्र में वर्णित चतुर्विधरूप में आलोचना॥ 108॥
 समभाव में परिणाम स्थापे, और देखे आत्मा।
 जिनवर-वृषभ उपदेश में, वह भाव है 'आलोचना'॥ 109॥
 जो कर्म-तरु-जड़ नाश के, सामर्थ्यरूप स्वभाव है।
 स्वाधीन निज परिणाम, 'आलुंछन' वही समभाव है॥ 110॥
 निर्मलगुणाकर कर्म-विरहित, आत्मा की भावना।
 माध्यस्थ भावों में करे, 'अविकृतिकरण' वह जानना॥ 111॥
 है 'भावशुद्धि' मान, माया, लोभ, मद बिन भाव जो।
 अर्हन्त लोकालोक दृष्टा, का कथन है भव्य को॥ 112॥

(दोहा)

निज चेतन में लीनता, परमालोचन भाव।
 सर्व दोष को नाश कर, परमुक्त पद पाय॥

शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्त अधिकार

अब, गाथा 113 से 121 तक शुद्ध निश्चयप्रायश्चित्त अधिकार प्रस्तुत है —

निज शुद्धात्मा के श्रद्धान-ज्ञान-आचरणरूप शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त से ही सर्व विभावों का क्षय होता है, कर्मों का नाश होता है, जन्म-जरा-मरण का दुःख मिटता है, जीव की पूर्ण स्वाभाविकदशा प्रकट होती है। अतः निश्चय प्रायश्चित्त में परायण आचार्य भगवान् प्रेरणा करते हैं — “हे भव्य! शुद्धात्मस्वरूप में लीनतामय परम तपश्चरण ही वास्तव में प्रायश्चित्त है। अनन्तानन्त भवों द्वारा

उपार्जित — कर्मों की महा-अटवी को जला देने के लिए, अग्नि की ज्वाला के समूह समान यह निश्चय प्रायश्चित्त ही संयम है, शील है, महाव्रत है, परम सुख का कारण है; अतः प्रत्येक आत्मारथी, चैतन्यस्वरूप आत्मा के ध्यानपूर्वक अक्षय सौख्य का अनुभव करो।”

(दोहा)

प्रायश्चित्त शुद्ध धार के, निज में करे निवास।

ये ही संयम-शील-तप, पञ्चमगति में वास॥

व्रत, समिति, संयम, शील, इन्द्रिय-रोध का जो भाव है।

वह भाव प्रायश्चित्त है, अरु अनवरत कर्तव्य है॥ 113॥

क्रोधादि आत्म-विभाव के, क्षय आदि की जो भावना।

है नियत प्रायश्चित्त वह, जिसमें स्वगुण की चिन्तना॥ 114॥

अभिमान मार्दव से तथा, जीते क्षमा से क्रोध को।

कोटिल्य आर्जव से तथा, सन्तोष द्वारा लोभ को॥ 115॥

उत्कृष्ट निज अवबोध अथवा, ज्ञान अथवा चित्त को।

धारे मुनि जो, पालता वह, नित्य प्रायश्चित्त को॥ 116॥

बहु कथन से क्या जो अनेकों, कर्म-क्षय का हेतु है।

उत्तम तपश्चर्या ऋषि की, सर्व प्रायश्चित्त है॥ 117॥

अर्जित अनन्तानन्त भव के, जो शुभाशुभ कर्म हैं।

तप से विनश जाते सुतप, अतएव प्रायश्चित्त है॥ 118॥

शुद्धात्म आश्रित भाव से, सब भाव का परिहार रे॥

यह जीव कर सकता अतः, सर्वस्व है वह ध्यान रे॥ 119॥

शुभ-अशुभ रचना वचन की, परित्याग कर रागादि का।

उसको नियम से है नियम, जो ध्यान करता आत्म का॥ 120॥

(108)

परद्रव्य काया आदि में, जो लीनता परित्याग हो।
 ध्यावे विकल्प-विमुक्त आत्मा, नियत कायोत्सर्ग हो॥ 121॥

(दोहा)

शुद्धातम की भावना, प्रायश्चित्त परमार्थ।

तजे सर्व व्यवहार तो, शीघ्र लहे भव-पार॥

परमसमाधि अधिकार

अब, गाथा 122 से 133 तक परमसमाधि अधिकार प्रस्तुत है —

अहो! निज आत्म-गुण-सम्पदा, जो कि समाधि का विषय है;
 उसे मैंने एक क्षण के लिए भी नहीं जाना। अरे रे! अनुपम मोक्षसुख
 के नाश के हेतुभूत संसार के दुःखों से मैं हैरान हो गया हूँ; अब इन
 दुःखों से कैसे छूटा जाये? — ऐसे भाववाले पात्र जिज्ञासु शिष्य को,
 परम समाधि में लीन आचार्य भगवान् कहते हैं — “हे आत्मन्!
 संसार के मूलभूत सर्व पुण्य-पाप को छोड़कर, सदा शिवस्वरूप-निर्दोष-
 परमानन्दमय आत्मा के आश्रयपूर्वक धर्मध्यान और शुक्लध्यान के
 द्वारा, परम समाधि में परिणमित जीव ही सर्व महादुःख समूह का
 नाश करता है। अतः हे भव्य! अनाकुल निजतत्त्व के ध्यान द्वारा
 शुद्ध-निश्चय-परम वीतरागात्मक-सुखामृत का पान करो।”

इस अधिकार में आचार्यदेव ने परमसमाधि का स्वरूप बताते
 हुए, परम वीतरागस्वरूप जिन भगवान् आत्मा के आश्रय से, समभाव
 में रहने को ही समाधि कहा है। आचार्य भगवान् कहते हैं कि —
 ‘सर्वश्रेष्ठ समाधि तो शुक्लध्यान के द्वारा ही संभव है, जो केवलज्ञान
 की प्रदाता है।’

कर्म-मल सब नाश के, परम समाधि लीन।

ध्यावें बस निज आत्मा, वन्दत हूँ प्रभु जिन॥

रे! त्याग वचनोच्चार किरिया, वीतरागी भाव से।

ध्यावे निजात्मा जो परम, होती समाधि है उसे॥ 122॥

संयम-नियम-तप से तथा रे!, धर्म-शुक्ल सुध्यान से।

ध्यावे निजात्मा जो परम, होती समाधि है उसे॥ 123॥

वनवास, काया-क्लेश रूप, अनेक विध उपवास से।

वा अध्ययन-मौनादि से क्या?, साम्य विरहित साधु के॥ 124॥

सावद्य-विरत, त्रिगुप्तिमय, अरु विमुख-इन्द्रिय जो रहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 125॥

स्थावर तथा त्रस सर्व, जीव समूह प्रति समता लहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 126॥

संयम-नियम-तप में अहो!, आत्मा समीप जिसे रहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 127॥

नहीं राग अथवा द्वेष से, जो संयमी विकृति लहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 128॥

रे! आर्त-रौद्र दुःध्यान का, नित ही जिसे वर्जन रहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 129॥

जो पुण्य-पाप विभावभावों, का सदा वर्जन करे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 130॥

जो नित्य वर्जे हास्य अरु, रति-अरति-शोक विरत रहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 131॥

जो नित्य वर्जे भय-जुगुप्सा, सर्व वेदसमूह रे!।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 132॥

जो नित्य उत्तम धर्म-शुक्ल, सुध्यान में ही रत रहे।

स्थायी सामायिक है उसे, यों केवली शासन कहे॥ 133॥

(दोहा)

परमानन्द शुद्धात्म का, सतत करूँ मैं ध्यान।

परम समाधि रूप हो, पाऊँ मुक्ति महान॥

परमभक्ति अधिकार

अब, गाथा 134 से 140 तक परमभक्ति अधिकार प्रस्तुत है —

चतुर्गति संसार में परिभ्रमण के कारणभूत मिथ्याभावों से निवृत्ति हेतु, — परमभक्त आचार्य श्रीकुन्दकुन्ददेव, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चयभक्ति की प्रेरणा करते हुए कहते हैं — “हे आत्मन्! आत्मा को, आत्मा के साथ जोड़ना ही सच्ची भक्ति है; अतः जो आत्मा, आत्मा को, आत्मा के साथ निरन्तर जोड़ता है, वही परमभक्त है; वह काम-क्रोध आदि समस्त दुष्ट पापसमूह से मुक्त होता है, अनुपम मुक्तिसुख को प्राप्त करता है; अतः हे आत्मन्! तुम भी निज आत्मा को परम वीतरागी सुख देने वाली — यह उत्तम भक्ति करो।”

(दोहा)

आत्मभाव से आत्म की, भक्ति करें जिनराय।

पञ्चमगति के पात्र वे, वन्दत हूँ तिन पाँय॥

उसको कहें निर्वाण-भक्ति, परम जिनवरदेव रे!॥ 134॥

जो मुक्तिगत हैं, उन पुरुष की, भक्ति जो गुणभेद से।

करता, वही व्यवहार से, निर्वाण भक्ति जान रे!॥ 135॥

रे! जोड़ निज को मुक्ति-पथ में, भक्ति निर्वृत्ति की करे।

अतएव वह असहाय, गुण-सम्पन्न निज आत्मा वरे॥ 136॥

रागादि के परिहार में जो, साधु जोड़े आत्मा।

है योग की भक्ति उसे, नहीं अन्य को सम्भावना॥ 137॥

सब ही विकल्प अभाव में, जो साधु जोड़े आत्मा।

है योग की भक्ति उसे, नहीं अन्य को सम्भावना॥ 138॥

विपरीत आग्रह छोड़कर, श्री जिनकथित जो तत्त्व हैं।

जोड़े वहाँ निज आत्मा, निजभाव ही, वह योग है॥ 139॥

वृषभादि जिनवर-भक्ति कर, इस तरह उत्तम योग की।

निर्वृत्ति सुख पाया अतः, धर भक्ति उत्तम योग की॥ 140॥

(दोहा)

निज परमात्म तत्त्व की, भक्ति करे जो आत्म।

अनुपम मुक्ति-सुख लहे, कहते जिन-परमात्म॥

निश्चयपरमावश्यक अधिकार

अब, गाथा 141 से 158 तक निश्चयपरमावश्यक अधिकार प्रस्तुत है —

शरीरादि परद्रव्यों में एकत्वबुद्धि के कारण संसारजनित सुख में जो रमता है, वह आत्मा अन्यवश है; वह भले मुनिवेषधारी हो अथवा शुभ आचरण में प्रवर्तता हो अथवा द्रव्य-गुण-पर्यायों के

विकल्पों में मन लगाता हो, तथापि संसारी है, स्वरूप से भ्रष्ट है, नित्य दुःख को भोगने वाला है। अतः आचार्य भगवान् परम आवश्यककर्म की प्रेरणा करते हुए कहते हैं — “हे भव्य! जन्म-मरणरूप रोग के हेतुभूत समस्त परिग्रह को छोड़कर, परम जिनमार्ग के आचरण में कुशल, ज्ञानतत्त्व में सदैव लीन जीव, अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं है, यही आवश्यककर्म है; यह आवश्यककर्म ही निर्वाण का मार्ग है। जैसे कोई दरिद्र मनुष्य कदाचित् पुण्योदय से धन प्राप्त कर, किसी गुप्त स्थान में रहकर, गुप्त-रूप से उसे भोगता है; उसी प्रकार हे आत्मन्। परम तत्त्वज्ञानी होकर, सहज ज्ञान-निधि को प्राप्त करके, रङ्ग-राग-भेद के सर्व विकल्पों को छोड़कर, स्वरूप में ही गुप्त रहकर, सहज ज्ञान की रक्षा करो, तुम्हारा अविनाशी कल्याण होगा।”

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ने, निश्चय परम आवश्यक अधिकार को, व्यवहार षट् आवश्यक से प्रतिपक्षभूत कहा है। आचार्यदेव कहते हैं कि “जो जीव, संयत रहता हुआ भी शुभभाव का ही आचरण करता है, वह भी अन्यवश है, उसे भी आवश्यक कर्म नहीं होते। जो परमभाव को त्यागकर, आत्मवश होता है, उसे ही आवश्यक कर्म होते हैं।”

आचार्यदेव कहते हैं — “अहो! कर सको तो ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को करो; यदि शक्तिविहीन हो तो श्रद्धान ही कर्तव्य है। आज तक जितने भी पुराणपुरुष हुए हैं, वे सभी आवश्यककर्म करके ही, अप्रमत्तभाव को प्राप्त करके, केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं; अतः आवश्यककर्म वास्तव में आवश्यक है।”

(दोहा)

ज्ञान, ज्ञान में लीन हो, परमावश्यक कर्म।

निज चेतन में गुप्त हैं, वन्दूँ सिद्ध अनन्त॥

नहीं अन्यवश जो जीव, आवश्यक करम होता उसे।

यह कर्मनाशक योग ही, निर्वाणमार्ग प्रसिद्ध रे॥ 141॥

जो वश नहीं, वह 'अवश', आवश्यक अवश का कर्म है।

वह युक्ति है, वह यत्न है, वह निरवयव-कर्ता धर्म है॥ 142॥

वर्ते अशुभ परिणाम में, वह श्रमण है वश अन्य के।

अतएव आवश्यक-स्वरूप, न कर्म होता है उसे॥ 143॥

संयत चरे शुभभाव में जो, वह श्रमण वश अन्य के।

अतएव आवश्यक-स्वरूप, न कर्म होता है उसे॥ 144॥

जो जोड़ता चित द्रव्य-गुण, पर्याय चिन्तन में अरे॥

रे! मोह-विरहित श्रमण कहते, अन्य के वश ही उसे॥ 145॥

जो छोड़कर परभाव ध्यावे, शुद्ध-निर्मल आत्म रे॥

वह आत्मवश है श्रमण, आवश्यक करम होता उसे॥ 146॥

आवश्य का कांक्षी हुआ, तू स्थैर्य स्वात्मा में करे।

होता इसी से जीव, सामायिक सुगुण सम्पूर्ण रे॥ 147॥

रे! श्रमण आवश्यकरहित, चारित्र से अतिभ्रष्ट है।

अतएव आवश्यक करम, पूर्वोक्त विधि से इष्ट है॥ 148॥

रे! साधु आवश्यकसहित, वह अन्तरात्मा जानिए।

इससे रहित हो साधु जो, बहिरात्मा पहिचानिए॥ 149॥

जो बाह्य-अन्तर जल्प में, वर्ते वही बहिरात्मा।

जो जल्प में वर्ते नहीं, वह जीव अन्तर आत्मा॥ 150॥

(114)

रे! धर्म-शुक्ल सुध्यान परिणत, अन्तरात्मा जानिए।
 अरु ध्यान विरहित श्रमण को, बहिरात्मा पहिचानिए॥ 151॥
 प्रतिक्रमण आदि क्रिया तथा, चारित्र निश्चय आचरे।
 अतएव मुनि वह वीतराग, चारित्र में स्थिरता करे॥ 152॥
 रे! वचनमय प्रतिक्रमण, वाचिक नियम प्रत्याख्यान रे!।
 वाचिक सभी आलोचना को, जान तू स्वाध्याय रे!॥ 153॥
 जो कर सको तो ध्यानमय, प्रतिक्रमण आदिक कीजिए।
 यदि शक्ति हो नहीं तो अरे, श्रद्धान निश्चय कीजिए॥ 154॥
 कर परीक्षा प्रतिक्रमण आदिक, की परम जिनसूत्र में।
 रे! साधिये निजकार्य अविरल, साधु! रत व्रत मौन में॥ 155॥
 हैं जीव नाना, कर्म नाना, लब्धि नाना विध कही।
 अतएव ही निज-पर समय के, साथ वर्जित वाद भी॥ 156॥
 निधि पा मनुज तत्फल वतन में, गुप्त रह ज्यों भोगता॥
 त्यों छोड़ परजन-संग ज्ञानी, ज्ञान-निधि को भोगता॥ 157॥
 यों सर्व पौराणिक पुरुष, आवश्यकों की विधि धरी।
 पाकर नियत अप्रमत्त स्थान, हुए अरे! प्रभु केवली॥ 158॥

(दोहा)

रङ्ग, राग अरु भेद के, सर्व मोह को त्याग।
 करूँ आत्म आराधना, पाऊँ निजपद राज॥

शुद्धोपयोग अधिकार

अब, 159 से 187 गाथा तक की कुल 28 गाथाओं में अन्तिम
 शुद्धोपयोग अधिकार प्रस्तुत है —

जब तक इस जीव की शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि रहती है, तभी तक आत्मा से शरीर का सम्बन्ध रहता है, जन्म-मरण होते हैं। अहो! यदि अनन्त-अनन्त-अनन्त को अनन्त से गुणा करें, तो भी अन्त न आवे, इतने भव अनादिकाल से इस संसार में इस जीव ने धारण किये हैं। यह जीव, आत्मा को जाने बिना, रखड़-रखड़कर दुःखी हो रहा है। अतः शुद्धात्मा के मङ्गलसाधक, शुद्धोपयोगरूप परिणमित, आचार्य भगवान कहते हैं — “हे आत्मा! जब इस जीव का परद्रव्यों से सर्वथा ममत्व छूट जाता है, तो आत्मा परम सन्तुष्ट होता है। भगवान आत्मा, स्वयं अतीन्द्रिय ज्ञान एवं आनन्दमय है; उसमें उपयोग स्थिर करते ही स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द बाहर आता है, राग का नाश होता है, पूर्ण शुद्धोपयोगदशा प्राप्त होते ही केवलज्ञान प्रकट होता है; केवलज्ञान की एक समय की पर्याय में तीन काल व तीन लोक जानने में आते हैं।”

“अहो! स्व-पर प्रकाशक ज्ञान की दिव्य सामर्थ्य! ज्ञान में लोकालोक नहीं आते, स्वयं से ही लोकालोक सम्बन्धी ज्ञान होता है; सम्पूर्ण विश्व का ज्ञाता-दृष्टा हुआ आत्मा, अपने आत्मद्रव्य में स्थिर हो जाता है; अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता, तभी उसे परमात्मा कहते हैं। एक के बाद एक परमात्मपर्याय का वेदन करता हुआ, मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त जीव, सादि-अनन्त काल तक, लोक के अग्रभाग में विराजमान रहकर, अक्षय-अनन्त-अविनाशी परमसुख को भोगता है। अरे! जहाँ दुख नहीं है, लौकिक सुख भी नहीं है, पीड़ा नहीं है, बाधा नहीं है, मरण नहीं है, जन्म नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, उपसर्ग नहीं है, मोह नहीं है, विस्मय नहीं है, निदान नहीं है,

क्षुधा नहीं है, तृषा नहीं है, चिन्ता नहीं है, कर्म-नोकर्म नहीं है, आर्त-रौद्रध्यान नहीं है, अरे! धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है — वही निर्वाण है। नमस्कार हो इस मार्ग में आरूढ़ हुए भव्य आत्माओं को, और इस सुन्दर निर्वाणमार्ग को।”

अन्त में आचार्यदेव प्रेरणा देते हैं कि “कोई यदि ईर्ष्याभाव से सुन्दर जिनमार्ग की निन्दा करते हैं, तो उनके वचन सुनकर हे भव्यों! तुम जिनमार्ग के प्रति अभक्ति मत करना। तुम्हारा अविनाशी कल्याण होगा।”

(दोहा)

शुद्धोपयोग महान ही, मुनिवर का आधार।
 कर्म-निर्जरा पूर्ण कर, होवें भव से पार॥
 व्यवहार से प्रभु केवली, सब जानते अरु देखते।
 निश्चय नयात्मक द्वार से, निज आत्म को प्रभु पेखते॥ 159॥
 ज्यों ताप और प्रकाश रवि के, एक संग ही वर्तते।
 त्यों केवली के ज्ञान-दर्शन, एक साथ प्रवर्तते॥ 160॥
 दर्शन प्रकाशक आत्म का, पर का प्रकाशक ज्ञान है।
 निज-पर प्रकाशक आत्मा, रे! यह विरुद्ध विधान है॥ 161॥
 पर ही प्रकाशे ज्ञान तो हो, ज्ञान से दृग् भिन्न रे॥
 ‘परद्रव्यगत नहीं दर्श’ वर्णित, पूर्व तव मन्तव्य रे॥ 162॥
 पर ही प्रकाशे जीव तो हो, आत्म से दृग् भिन्न रे॥
 ‘परद्रव्यगत नहीं दर्श’ वर्णित, पूर्व तव मन्तव्य रे॥ 163॥
 व्यवहार से है ज्ञान पर-गत, दर्श भी अतएव है।
 व्यवहार से है जीव पर-गत, दर्श भी अतएव है॥ 164॥

(117)

है ज्ञान निश्चय निज-प्रकाशक, अतः त्यों ही दर्श है।
 है जीव निश्चय निज-प्रकाशक, अतः त्यों ही दर्श है॥ 165॥
 प्रभु केवली निजरूप देखें, और लोकालोक ना।
 यदि कोई यों कहता अरे!, उसमें कहो है दोष क्या?॥ 166॥
 जो मूर्त और अमूर्त जड़-चेतन, स्व-पर सब द्रव्य हैं।
 देखे उन्हें, उसको अतीन्द्रिय, केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है॥ 167॥
 जो विविध गुण-पर्याय से, संयुक्त सारी सृष्टि है।
 देखे न जो सम्यक् प्रकार, परोक्ष रे! वह दृष्टि है॥ 168॥
 भगवान केवली लोक और, अलोक जाने, आत्म ना।
 यदि कोई यों कहता अरे!, उसमें कहो है दोष क्या?॥ 169॥
 है ज्ञान जीव स्वरूप इससे, जीव जाने जीव को।
 निज को न जाने ज्ञान तो, वह आत्मा से भिन्न हो॥ 170॥
 सदेह नहीं, है ज्ञान आत्मा, आत्मा है ज्ञान रे!।
 अतएव निज-पर के प्रकाशक, ज्ञान-दर्शन मान रे!॥ 171॥
 जानें तथा देखें तदपि, इच्छा बिना भगवान हैं।
 अतएव केवलज्ञानी वे, अतएव ही निर्बन्ध हैं॥ 172॥
 रे! बन्ध-कारण जीव को, परिणामपूर्वक वचन हैं।
 है बन्ध ज्ञानी को नहीं, परिणाम विरहित वचन है॥ 173॥
 है बन्ध-कारण जीव को, इच्छासहित वाणी अरे!।
 इच्छारहित वाणी अतः ही, बन्ध नहीं ज्ञानी करे॥ 174॥
 अभिलाषयुक्त विहार आसन, स्थान जिनवर को नहीं।
 निर्बन्ध इससे, बन्ध करता, मोहवश साक्षार्थ ही॥ 175॥

हो आयुक्षय से शेष सब ही, कर्म-प्रकृति विनाश रे!।
 सत्वर समय में पहुँचते, अर्हन्त-प्रभु लोकाग्र रे!॥ 176॥
 बिन-कर्म परम विशुद्ध, जन्म-जरा-मरण से हीन है।
 ज्ञानादि चार स्वभावमय, अक्षय अछेद अछीन है॥ 177॥
 निर्बाध अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्य-पापविहीन है।
 निश्चल निरालम्बन अमर, पुनरागमन से हीन है॥ 178॥
 दुःख-सुख नहीं, पीड़ा जहाँ नहीं, और बाधा है नहीं।
 नहीं जन्म है, नहीं मरण है, निर्वाण जानों रे! वहीं॥ 179॥
 इन्द्रिय जहाँ नहीं, मोह नहीं, उपसर्ग-विस्मय भी नहीं।
 निद्रा क्षुधा तृष्णा नहीं, निर्वाण जानो रे! वहीं॥ 180॥
 नहीं कर्म अरु नोकर्म; चिन्ता, आर्त-रौद्र जहाँ नहीं।
 है धर्म-शुक्ल सुध्यान नहीं, निर्वाण जानो रे! वही॥ 181॥
 दृग्-ज्ञान केवल, सौख्य केवल, और केवल वीर्यता।
 होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति-विहीनता॥ 182॥
 निर्वाण ही तो सिद्ध है, अरु सिद्ध ही निर्वाण रे!।
 हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा, पहुँचता लोकान्त रे!॥ 183॥
 जानो वहीं तक जीव-पुद्गल गति, जहाँ धर्मास्ति है।
 धर्मास्तिकाय अभाव में, आगे गमन की नास्ति है॥ 184॥
 जिनदेव प्रवचन-भक्ति बल से, नियम तत्फल में कहे।
 यदि हो कहीं समयज्ञ, पूर्वापर विरोध सुधारिये॥ 185॥
 जो कोई सुन्दर मार्ग की, निन्दा करे मात्सर्य में।
 सुनकर वचन उसके अभक्ति, न कीजिये जिनमार्ग में॥ 186॥

निज भावना के निमित्त मैंने, नियमसार सुश्रुत रचा।

सब दोष पूर्वापररहित, उपदेश जान जिनदेव का॥ 187॥

(दोहा)

एक शुद्ध उपयोग से, करूँ आत्म-कल्याण।

शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान से, प्राप्त करूँ निर्वाण॥

उपसंहार

निज शुद्धात्मा की आराधना ही निश्चय रत्नत्रय है, नियम है, प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, आलोचना है, प्रायश्चित्त है, परमसमाधि है, परमभक्ति है, परमावश्यक है; अतः, श्रद्धेय-ध्येय-आराध्य तो एकमात्र निज शुद्धात्मा ही है — इस रहस्य को प्रत्यक्ष करता हुआ, यह अद्वितीय आगमचक्षु श्रीनियमसार पूर्णता को प्राप्त होता है। आचार्य भगवान कहते हैं — “हे भव्य जीवों! यदि आत्महित करना चाहते हो, तो समस्त प्रकार से परिपूर्ण निज शुद्धात्मा की रुचि एवं विश्वास करो — यही नियम से भव्य समूह को निर्वाण का मार्ग है — यही जिनशासन है, जिनधर्म है। इस संसार अटवीरूप विकट स्थल में वीतराग जैनधर्म ही एकमात्र शरण है; अतः, समस्त विभावृत्तियों को दूर करके, हे सत्पुरुषों! इस नियमसार को अर्थात् जिनमार्ग को, मुक्तिमार्ग को हृदय में स्थापित करो और इस मार्ग के फल को प्राप्त करके अर्थात् परमश्री मुक्तिकामिनी का वरण करके निरन्तर अद्वितीय अतीन्द्रिय, निराबाध, अनन्त सुख का भोग करो।”

श्री कुन्दकुम्भाचार्य ने, दिया नियम का सार।

निश्चय बिन चारित्र सब, अर्थहीन निस्सार॥

निज शुद्धात्मारोधाना, चारित्र मङ्गलकार।

मुक्ति का दाता यही, यही नियम का सार॥

आशा है, श्रीसमयसार, श्रीप्रवचनसार एवं श्रीनियमसार ग्रन्थाधिराजों की यह सङ्गीतमयी प्रस्तुतियाँ आपको अवश्य ही हृदयग्राही और आत्मकल्याणकारी प्रतीत हुई होंगी।

इस सम्पूर्ण प्रस्तुति को दिल्ली पब्लिक स्कूल, अलीगढ़ के सङ्गीत विभाग ने सङ्गीतबद्ध किया है। इस आध्यात्मिक प्रस्तुति को देहरादून की श्रीमती बीना जैन के निदेशन में, डी०पी०एस० अलीगढ़ की सङ्गीत विभाग की शिक्षिका श्रीमती मीनाक्षी नागपाल एवं मध्यप्रदेश, सागर के युवा गायक, रोमिल जैन ने स्वर प्रदान किया है। इस प्रस्तुति में सम्यक् सर्वश्री कम्यूनिकेशन के निदेशक श्री संजयदेव का सहयोग उल्लेखनीय है। हम अपने इन सभी सहयोगियों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

आप तीर्थधाम मङ्गलायतन में पधारकर यहाँ विराजित जिनेन्द्र भगवन्तों के दर्शनों के साथ-साथ यहाँ के मनोहारी वातावरण और यहाँ के कण-कण में गुञ्जायमान देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति का लाभ उठायें — यह हमारा आप सभी से विनम्र अनुरोध है। आप अवश्य पधारें; शीघ्र पधारें — हम उत्सुकतापूर्वक आपकी प्रतीक्षा में हैं।

प्रस्तुतिसमापन के रूप में तीर्थधाम मङ्गलायतन का परिचय देता हुआ एक मधुर गीत आपकी सेवा में —

कहानगुरु का मङ्गलायतन.....

आदिप्रभुका, वीरप्रभुका, बाहुबलीजी का आयतन।
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन॥
 प्रथम विराजें आदिप्रभुजी, ऋषभदेव सादर वन्दन।
 ध्यानमात्र से भक्तजनों के, मिटेंगे सब भव-दुःख-क्रन्दन॥
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन॥ 1॥
 वर्धमान महावीर जिनस्वामी के चरणों में मेरा वन्दन।
 चारों गति में भटका हूँ, अब कटेंगे दुःख मेरे प्रतिक्षण॥
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन॥ 2॥
 बाहुबलीजी की शरणा पाकर, धन-धन होंगे हम सब जन।
 स्व-पर विवेक जगेगा उर में, मेटेंगे मिथ्यादर्शन॥
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन॥ 3॥
 गगनचुम्बी मानस्तम्भ प्यारा, विराजें आदिनाथ भगवन्।
 दर्शमात्र से भव्यजनों के, मान गले साधें आतम॥
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन॥ 4॥
 कहानगुरु के मङ्गलायतन पर, तन-मन-धन सब है अर्पण।
 भेदज्ञान की ज्योति जला कर, निज आतम का अभिनन्दन॥
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन।
 कहानगुरु का मङ्गलायतन रे, बहनश्री का मङ्गलायतन॥
 मङ्गलमय रे, मङ्गलमय रे, कहानगुरु का मङ्गलायतन॥ 5॥

और अन्त में, पण्डित प्रवर जयचन्द्रजी छाबड़ा द्वारा रचित
वैराग्य की जननी स्वरूप बारह भावना प्रस्तुत हैं —

बारह भावना

(पण्डित जयचन्द्रजी छाबड़ा)

- अनित्य — द्रव्यरूप करि सर्व थिर, परजय थिर है कौन।
द्रव्यदृष्टि आपा लखो, परजय नय करि गौन॥ 1॥
- अशरण — शुद्धातम अरु पञ्चगुरु, जग में सरनो दोय।
मोह-उदय जिय के वृथा, आन कल्पना होय॥ 2॥
- संसार — परद्रव्यन तैं प्रीति जो, है संसार अबोध।
ताको फल गति चार में, भ्रमण कह्यो श्रुत शोध॥ 3॥
- एकत्व — परमारथ तैं आतमा, एकरूप ही जोय।
कर्म-निमित्त विकल्प घने, तिन नाशे शिव होय॥ 4॥
- अन्यत्व — अपने-अपने सत्त्व कूँ, सर्व वस्तु विलसाय।
ऐसे चितवे जीव तब, परतैं ममत न थाय॥ 5॥
- अशुचि — निर्मल अपनी आत्मा, देह अपावन गेह।
जानि भव्य निजभाव को, यासों तजो सनेह॥ 6॥
- आस्रव — आतम केवल ज्ञान मय, निश्चय दृष्टि निहार।
सब विभाव परिणाममय, आस्रवभाव विडार॥ 7॥
- संवर — निजस्वरूप में लीनता, निश्चय संवर जानि।
समिति गुप्ति संयम धरम, धरै पाप की हानि॥ 8॥
- निर्जरा — संवरमय है आतमा, पूर्वकर्म झड़ जाय।
निजस्वरूप को पायकर, लोक-शिखर जब थाय॥ 9॥

लोक — लोकस्वरूप विचारि के, आतंमरूप निहार।

परमारथ-व्यवहार गुणि, मिथ्याभाव निवारि॥ 10॥

बोधिदुर्लभ — बोधि आपका भाव है, निश्चय दुर्लभ नाहिं।

भव में प्रापति कठिन है, यह व्यवहार कहाहिं॥ 11॥

धर्म — दर्श-ज्ञानमय चेतना, आतमधर्म बखानि।

दया-क्षमादिक रतनत्रय, यामें गर्भित जानि॥ 12॥

तीर्थधाम मङ्गलायतन

अलीगढ़-आगरा राजमार्ग

निकट दिल्ली पब्लिक स्कूल (सीनियर विक्क), अलीगढ़

सासनी - २०४२१६ (उ.प्र.)

